श्रीहर्ष के तार्किक ब्रह्मवाद का परीक्षण

(An Examination of Dialectical Absolutism of Shri Harsha)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में

डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध- न्ध *

निर्देशक

प्रो. संग पाण्डेय

एम० ए०, डी० लिट्

यू० जी० सी० एमेरिटस फेलो, दर्शनशास्त्र

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

शोधकर्ता

कैलाश नाथ

प्राचार्य

जनता महाविद्यालय, गुढ़

रीवा (म० प्र०)

दर्शन विभाग

इलाहाबाद

इलाहाबाद

1995

* आ मु ख *

यस्माज्जात जगत्सर्व यस्मिन्नेव प्रलीयते

येनेद धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नम ।

तैत्तिरीय उप. 1/1.

दर्शन में मेरी रूचि को देखते हुए मेरे गुरूदेव प्रोफेसर श्री सगमलाल पाण्डेय जी ने मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे डी फिल करने की प्रेरणा दी और "श्री हर्ष के तार्किक ब्रह्मवाद का परीक्षण" (An Examination of Dialectical Absolutism of Shri Harsha) विषय दिया। यद्यपि यह विषय आरम्भ में मुझे कठिन लग रहा था, तथापि जब मैने श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का हिन्दी अनुवाद पढा तो मुझे अपना विषय कुछ कुछ समझ मे आने लगा। स्वामी योगीन्द्रानन्द, स्वामी श्री हनुदास जी षट्शास्त्री तथा चण्डीप्रसाद सुकुल ने जो खण्डनखण्डखाद्य के हिन्दी अनुवाद किए थे, उनसे मुझे पर्याप्त सहायता मिली। आगे प्रो पाण्डेय जी ने ही मुझे इस ग्रथ को पढाया और शोध की दिशा निर्धारित की। इतना होने पर भी जीवन की अनेक समस्याओं मे उलझे रहने के कारण मै यथासमय अपना शोध पूरा न कर सका। किन्तु मेरी रूचि शोध मे बनी रही और अखिल भारतीय दर्शन परिषद तथा इण्डियन फिलसाफिकल कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों मे भाग लेते लेते मेरी जिज्ञासा और प्रबल हुई कि मुझे हर हालत मे अपना शोध कार्य पूरा करना है। सौभाग्य से इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने मेरा शोध मे पुन पंजीयन किया और मुझे शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने की वैधानिक सुविधा प्रदान की।

शोध के विषय पर इस शोध प्रबन्ध में जो सामग्री दी गई है, उसका सक्षेप या उसकी पुनरावृन्ति मै यहाँ नहीं करना चाहता। शोध प्रबन्ध का संक्षेप अलग से प्रस्तुत है। उसे विज्ञजन स्वयं देख परख सकते हैं।

यहाँ यह कहना अलबत्ता मैं चाहता हूँ कि इस शोध प्रबन्ध को पूरा करने मे गुरूकृपा और मेरे पिताश्री रामहिन्त सिह के आशीर्वाद के अलावा मेरी धर्मपत्नी श्रीमती शान्ती सिह का भी विशेष योगदान रहा है। मेरे पिताजी इसको पूरा करने के लिए बार-बार आदेश देते रहे और धर्मपत्नी ने इसको पूरा करने के लिए मुझे घर गृहस्थी के दायित्व से उन्मुक्त कर दिया। अतएव इस ग्रथ के लेखन में अपने गुरूदेव प्रो संगमलाल जी पाण्डेय, अपने पिताश्री

रामहिन्त सिंह और अपनी धर्मपत्नी श्रीमती शान्ती सिंह के आभार से मै इतना दबा हूँ कि उनसे उऋण नहीं हो सकता, यह ग्रथ ही शायद उन सबको अभीष्ट तृप्ति प्रदान करे।

पुन शोध प्रबन्ध के लिखने में जिन अन्य विद्वानों ने समय समय पर उत्साह दिलाया अथवा मार्गदर्शन किया, उनमे डॉ छोटेलाल त्रिपाठी, डॉ रामलाल सिह, डॉ देवकीनन्दन द्विवेदी और प्रोफेसर शिवशकर जी राय प्रमुख है । इन सब लोगों को धन्यवाद देना मात्र औपचारिकता नही, वरन मेरे हृदय की पुकार है । बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अवकाश प्राप्त दर्शन विभागाध्यक्ष प्रोफेसर नन्द किशोर देवराज जी ने भी मुझे बडा सबल और सहयोग दिया, जिनके कारण उनको धन्यवाद देना मै अपना पवित्र कर्त्तव्य मानता हूँ। मुझे दु ख है कि आज प मिट्ठूलाल शास्त्री, डॉ शशधर दत्त और डॉ शक्ति चरण विश्वास दिवंगत हो गये है और वे मेरे इस शोध प्रबन्ध को देख नहीं सकते फिर भी इसकी समाप्ति से उनकी आत्माओं को अवश्य आनन्द मिलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

अन्त मे शोध प्रबन्ध के विषय पर केवल इतना कहना है कि मैने यहाँ भरसक यह प्रयत्न किया है कि श्री हर्ष जिस ब्रह्मवाद को मानते थे, वह तार्किक है न कि रहस्यवादी अथवा श्रुतिपूरक, इस प्रयत्न मे मै कहाँ तक सफल हूँ, इसकी परीक्षा सुधीजन को ही करने को छोड रहा हूँ।

शोध प्रबन्ध के स्वच्छ टंकण हेतु श्री सतोष कुमार गर्ग, आजाद नगर, रीवा (म प्र) को धन्यवाद देता हूँ।

कैलाश नाथ
प्राचार्य
जनता महाविद्यालय गुढ
रीवा (म प्र)

इलाहाबाद
बसन्त पंचमी
4 फरवरी 1995

विषयानुक्रमणिका

-0-

अध्याय प्रथम

श्री हर्ष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

"ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः"

- गीता -

श्रीहर्ष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

श्रीहर्ष का नाम अद्वैतवाद के इतिहास मे मील का पत्थर है। वे युगान्तरकारी दार्शनिक थे। अद्वैतवेदान्त मे उन्होने एक क्रान्ति की है, जिसमे दो पहलू इतिहास प्रसिद्ध है -

1 - उन्होंने अद्वैतवेदान्त मे एक नये प्रस्थान की स्थापना की, जिसे बाध प्रस्थान कहा जाता है। उनका ग्रन्थ खण्डन खण्ड खाद्य इस प्रस्थान की बाइबिल है। इसके अन्य दार्शनिक चित्सुख और मधुसूदन सरस्वती है। जिनके ग्रन्थ क्रमश तत्वप्रदीपिका (चित्सुखी) और अद्वैतसिद्धि है। खण्डनखण्ड खाद्य चित्सुखी और अद्वैतसिद्धि बाध प्रस्थान के मूल ग्रथ है। इनमे से प्रत्येक के ऊपर अनेक टीकाये लिखी गई हैं। इन सभी टीकाकारों को बाध प्रस्थान मे शामिल किया जाता है और इस प्रकार वाध प्रस्थान के दार्शनिकों की सख्या बहुत अधिक हो जाती है। इस प्रस्थान का मुख्य प्रयोजन है - तर्क बुद्धि द्वारा अद्वैत वेदान्त की प्रतिरक्षा करना तथा उन सभी आपत्तियों का निराकरण करना, जो अद्वैत विरोधी दार्शनिकों ने समय समय पर अद्वैतवाद पर लगाई थीं।

2 - श्रीहर्ष ने खण्डनखण्ड खाद्य के द्वारा न्याय-दर्शन का निराकरण किया और भारतीय दर्शन मे अद्वैत वेदान्त और न्याय दर्शन के सघर्ष का सूत्रपात किया। स्वामी विद्यारण्य ने पचदशी मे श्रीहर्ष के कृतित्व का मूल्याकन करते हुए लिखा है -

निरूक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ।।

अर्थात् जो तार्किक (नैयायिक), वैशेषिक और मीमासक निरूक्त (निर्वचन या लक्षण) पर अभिमान करते है अथवा जो नैयायिकगण पदार्थो के लक्षण और व्याख्यान पर बल देते हैं, उनको श्री हर्ष इत्यादि दार्शनिको ने खण्डनखण्डखाद्य मे अच्छी तरह से शिक्षित कर दिया है। अर्थात् उनके गर्व को चूर्ण कर दिया है।[1]

---

1. विशेष दृष्टव्य - शंकर मिश्र - अद्वैत वेदान्त से न्याय का संघर्ष, डॉ सत्यप्रकाश पाण्डेय, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, 1990, पृष्ठ 58 आदि।

इस प्रकार श्री हर्ष के दार्शनिक महत्व को आसानी से आका जा सकता है । ऐसे महान दार्शनिक कब और कहाँ पैदा हुए तथा किन-किन ग्रन्थों की रचना की, इसका प्रामाणिक विवेचन आपेक्षित है, तत्पश्चात् उनके विशिष्ट सिद्धान्तो ओर तर्क विधि का विवेचन किया जायेगा ।

(1) समय .

दार्शनिक शिरोमणि महाकवि श्री हर्ष की माता का नाम मामल्ल देवी तथा पिता का नाम श्री हरि था ।[2] । वे अद्वैत वेदान्त के महारथी थे, साथ ही नव्य अद्वैत वेदान्त के प्रणेता थे । दार्शनिक के साथ-साथ वे साहित्य के क्षेत्र मे बहुत बडे कवि भी थे । इनका काव्य के क्षेत्र मे पदलालित्य अत्यन्त प्रशसनीय है । ऐसे महान विद्वान के समय स्थान आदि जानने के विषय मे जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है । वैसे सस्कृत साहित्य मे श्री हर्ष नाम के अनेक विद्वान हुये है । जैसे - (1) स्थाण्वोश्वर और कान्यकुब्ज के प्रसिद्ध सम्राट हर्षवर्धन, जिन्होंने 'नागानन्द', 'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली' नाटिका लिखी है । (2) श्रीकल्हण की 'राजतरंगिणी' (7/611) मे कथित एक सत्कवि । (3) भरत के नाट्यशास्त्र के वार्तिककार जो अभिनव गुप्त से पूर्व के है । किन्तु ये सभी 10वी शताब्दी के पूर्व के है । ये 'लक्षणावली' (984- 95) लिखने वाले श्री उदयनाचार्य के खन्डनकर्ता श्रीहर्ष कदापि नही हो सकते ।

श्री हर्ष के समय निर्धारण के लिये दो प्रकार की सामग्रिया सहायक है - अन्त साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्य । अन्त साक्ष्य मे श्री हर्ष की दो रचनाये है - 'खण्डनखण्डखाद्य' तथा 'नैषधचरितम्', जिनमे स्वय उन्होंने अपना थोडा परिचय दिया है । वे खण्डन तथा नैषध दोनों ग्रन्थों मे कन्नौज के राजा जयचन्द्र के द्वारा पान के दो बीडा प्राप्त करने का वर्णन करते है[3] । ये कन्नौज के किस राजा के समकालीन थे, यह प्रश्न उठता है । इसका समाधान उनकी 'विजय प्रशस्ति' नामक ग्रन्थ से हो जाता है, क्योंकि यह ग्रन्थ सम्भवत विजयचन्द्र की प्रशसा में लिखा गया था । अत श्री हर्ष महाराज विजयचन्द्र के समकालीन थे । महाराज विजयचन्द्र के लडके का नाम जयचन्द्र था, जिनका राज्यकाल 1169 ईसवी से 1193 ईसवी तक माना गया

---

2 श्री हर्ष कविराज राजिमुकुटालंकारहीर सुतम् ।
श्री हीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।। (नैषध 1/145)

है । श्री जय चन्द्र का ।।86 ईसवी का एक दान पत्र भी मिलता है, जिससे उनका समय स्पष्ट निर्णीत हो जाता है[4] । अत श्री हर्ष का भी समय ।2वी शताब्दी रहा होगा।

बाह्य साक्ष्य मे, गगेशोपाध्याय ने 'तत्वचिन्तामणि' मे खण्डन खण्ड खाद्य से कारिका का उद्धरण देकर कहा है - 'एतेन खण्डनकारमतमप्यपास्तम्' अर्थात् इससे खण्डनकार (श्रीहर्ष) का मत भी खण्डित हो गया। इनका समय ।300 ईसवी माना जाता है । अत श्रीहर्ष को इनसे पूर्ववर्ती ही मानना पडेगा । अत श्री हर्ष का ।2 वी शताब्दी का समय ठीक सिद्ध होता है ।

डॉ बूलर ने श्री हर्ष का समय ।।69 से ।।93 ईसवी तक माना है । श्री के टी तैलग, डॉ बूलर के मत को नही मानते, वे श्री हर्ष को 9वी या ।0 वी शताब्दी का मानते है । डॉ बूलर के खण्डन मे वे तर्क देते हैं -

। - नेषध का उद्धरण भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे मिलता है ।

2 - वाचस्पति मिश्र ने ।। वी सदी में 'खण्डनों द्वार' लिखकर खण्डन का खण्डन किया है ।

3 - सायणमाधव ने 'शकर-दिग्विजय' मे श्रीहर्ष को श्री शकराचार्य के समकालीन (788-820 ई) बताया है ।

डॉ बूलर इन तर्को का खण्डन करते हुये कहते है -

। - 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का काल निश्चित नही है, और उसमे दिये गये उद्धरण भी सही नही है ।

2 - खण्डनोंद्वार के लेखक वाचस्पति षड्दर्शनों के टीकाकार वाचस्पति से भिन्न कोई नये वाचस्पति है ।

3 - सायणमाधव का वक्तव्य ऐतिहासिक विश्वसनीय नहीं है । कारण उन्होंने शकर, बाण आदि को, जिनका परस्पर भिन्न कालिक होना निश्चित है, वहाँ एक साथ ला बिठाया है ।

---

4 देखिये, खण्डन पृष्ठ 3, अच्युत.

अत. तेलंग का यह कहना कि श्री हर्ष 9वी 10वी शदी के हैं, विश्वसनीय नहीं है।

बाह्य तथा अन्त. साक्ष्यों के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि श्री हर्ष का समय 11 वी शदी का उत्तरार्द्ध ही उचित ठहरता है, क्योंकि श्री हर्ष ने स्वयं अपने विषय मे जयचन्द्र द्वारा प्राप्त सम्मान का वर्णन किया है। उनकी रचना विजय प्रशस्ति भी जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के लिये उचित ठहरती है। अतः श्री हर्ष का समय 1150 ई. से 1190 ई के बीच होना उचित प्रतीत होता है।

(2) **जन्म स्थान :**

समय निश्चित हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि श्री हर्ष का जन्म कहाँ हुआ था, तथा उनका जीवन कहाँ बीता? इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये है। किसी ने उन्हें बंगाली बताया, तो किसी ने कश्मीरी और किसी ने कान्यकुब्जवासी श्री दास गुप्ता तथा श्री नीलकमल महाचार्य उन्हें बंगाली मानते हैं। उनके मत से गोडेश्वर के आश्रित होने के कारण वे बंगाल के निवासी सिद्ध होते हैं। इसके अलावा अन्त.साक्ष्य भी पाये जाते हैं। जैसे विवाह के समय 'उलु' शब्द का उच्चारण और 'शंखवलय' का धारण जिसका कि 'नैषध' में दमयन्ती के विवाह के उवसर पर उल्लेख है[5]।

इन तर्कों का खण्डन डॉ. चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने अपने 'नैषध परिशीलन' की भूमिका में विस्तृत रूप से किया है, जो संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है .-

1 - गौंड़ देश का विस्तार केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं, बल्कि बंगाल, गोंडवाना, गोंडा और कभी-कभी समस्त उन्तर भारत के लिये भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

2 - 'उलु' शब्द का प्रयोग तो परकालीन साहित्य में विवाह प्रसंग का एक वर्ण्य विषय ही बन गया। वैसे 'अनर्घराघव' में मुरारी कवि ने भी इस शब्द का सीता विवाह के प्रसंग में उल्लेख किया है, जबकि मुरारी कवि निश्चित ही काश्मीरी माने गये हैं।

---

5. नैषधीय चरितम् , 14/51.

3 - 'शंखवलय' का प्रयोग श्री बाण ने कादम्बरी में जाबाली आश्रमवर्णन मे किया है, जो थे बिहारी और धानेश्वर में रहते थे।

इस तरह शब्दों के प्रयोग से भी हर्ष को बंगाली नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के लिये विभिन्न प्रान्तों का आचार व्यवहार का ज्ञान कोई बड़ी बात नहीं हो सकती है।

कुछ विद्वान श्री हर्ष को चिन्तामणि मंत्र पर भक्ति तथा नल के विवाह मे बरातियों के भोजन में मद्य-मास का प्रयोग के वर्णन के कारण श्री हर्ष को बंगाली मानते है। किन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि मंत्र-तंत्रवाद केवल बंगाल तक ही प्रचलित नहीं। दूसरे मद्य-मांस का प्रयोग क्षत्रिय राजा के विवाह में बंगाल के आचार को ईंगित नहीं करता, क्योंकि ऐसा क्षत्रिय राजाओं में सब जगह प्रचलन मे था।

अन्त साक्ष्य के आधार पर श्री हर्ष को कन्नौज प्रान्त का कहा जा सकता है, क्योंकि नैषध में श्री हर्ष अपने जन्म प्रदेश का वर्णन करते हुये लिखते हैं - तोते के मुख से नव-दम्पन्ति नल-दमयन्ती का वर्णन करवाते हुये अपने प्रिय प्रदेश के प्रति अपने विचार कहलवा दिया है। तोता कहता है - 'जिस प्रकार गंगा-यमुना दो नदियों का हार पहने जन मन को प्रिय लगने वाले 'मध्यदेश' से युक्त तथा 'अन्तर्वेदि' प्रान्त से सुशोभित वसुमती को धारण किये हुये चन्द्रमा के प्रकाश से उल्लासित सागर की शोभा होती है, उसी प्रकार धवल (मुक्ता) हार समन्वित अतिरम्य कटिप्रदेश वाली प्रिया को गोद में लिये हुये आप उसके मुखचन्द्र से प्रफुल्लित हो रहे हैं[6]।"

इस तरह श्री हर्ष ने अपने प्रिय प्रदेश 'मध्यदेश' का वर्णन तोते द्वारा अनुपयुक्त होते हुये भी करवा दिया, जो उनके जन्म प्रदेश का संकेत करता है, क्योंकि यह सहज धर्म होता है कि न चाहते हुये भी मनुष्य अपने हृदय को प्रिय लगने वाली वस्तु की ओर संकेत कर ही देता है। आगे फिर श्री हर्ष ने तोते के मुख से मध्यदेश की राजधानी कन्नौज का वर्णन करवाया है। दमयन्ती की प्रशंसा करते हुये तोता कहता है - "सुन्दरि तुम भगवान कामदेव की राज नगरी हो और तुम्हारे कुचों पर की गयी, यह मकर रचना उस राजा की मकरांकित

---

6. एतां धरामिव सरिच्छवि-हारि-हारा-मुल्कासितरत्वमिदमाननचन्द्रभासा।
विभ्रद्विभासि पयसामिव राशिरन्तर्वेदिश्रियं जनमन.प्रियमध्यदेशाम्।। (नैषध. चौ. 21/119)

पताका है । महोदय (कन्नौज अथवा महान् अभ्युदय) के महोत्सव से युक्त इस नगरी (तुम) में तुम्हारी भौंहों को कौन कामदेव का तोरण न कहेगा"[7] ?

बाह्य साक्ष्य से भी श्री हर्ष का कन्नौज प्रान्त का होना सिद्ध होता है। फर्रूखाबाद जिले मे कन्नौज के पास मीरा सराय नाम का एक कस्बा है, जहाँ कन्नौज का रेलवे स्टेशन है । यहाँ विशेष बस्ती कन्यकुब्ज मिश्रों की है, ये लोग स्मार्त ओर शाक्त हैं और अपने को श्री हर्ष का वंशज बतलाते हैं । इनका कहना है कि "हम लोग पहले त्रिपाठी थे, परन्तु श्री हर्ष ने एक यज्ञ किया, जिससे हम मिश्र कहे जाने लगे"[8] ।

इस प्रकार अन्त. एवं बाह्य साक्ष्यों को देखते हुये हम पूर्ण विश्वास के साथ निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्री हर्ष का जन्म स्थान कन्नौज प्रान्त ही था।

(3) कृतियाँ :

श्री हर्ष रचित ग्रंथ अब तक दो प्राप्य हैं - खण्डन खण्ड खाद्य तथा नैषधीय चरितम् । इन दोनों ग्रन्थों में इनके अन्य रचनाओं का भी उल्लेख पाया जाता है । खण्डनखण्ड खाद्य में 'ईश्वराभि सन्धि' का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है[9] । शेष अन्य कई ग्रन्थों का उल्लेख नैषध में पाया जाता है[10] -

1 - अर्णव-वर्णन, 2 - शिवशक्ति-सिद्धि, 3 - साहसांक चम्पू, 4 - छन्द. प्रशस्ति, 5 - विजय प्रशस्ति, 6 - गौडोर्वीश-कुलप्रशस्ति, 7 - स्थैर्य-विचारण प्रकरण।

---

7. चेतोभवस्य भवती कुचपत्रराजधानीयकेतुमकरा ननु राजधानी।
अस्यां महोदयमहस्पृशि मीनकेतोः के तोरणं तरुणि न ब्रूवते भुवौ ते।। (नै.चौ. 21/12)

8. नैषधपरिशीलन, डॉ. चण्डिका प्रसाद शुक्ल, पृष्ठ 19.

9 देखिये खण्डन. अच्युत. , पृ. 39, 50, 85 आदि।

10. देखिये, नैषध, पृ. 9/160; 18/149; 22/149; 17/122; 5/138; 7/110

(क) खण्डन खण्ड खाद्य .

'खण्डन खण्ड· खाद्य' के 'खण्डनखण्ड', 'खण्ड खाद्य', 'खाद्य खण्डन' तथा 'खण्डन' आदि नाम प्रचलित हैं। इसका एक नाम 'अनिर्वचनीयता सर्वस्व' भी है।

खण्डन खण्डखाद्य का अर्थ है - (अ) पदार्थादि खण्डनस्य खण्ड या खांडसार चीनी का खाद्य यानी भक्ष्य पदार्थ, अर्थात् जिस ग्रंथ के अध्ययन एवं अध्यापन करने वाले को पदार्थादि खण्डन रूप खाँड के समान माधुर्य रस का अनुभव हो वह 'खण्डन खण्ड खाद्य' है। (ब) दूसरा अर्थ 'खण्डेन = पदार्थादिखण्डनरूपेण खण्डा. = खण्डिता. खम् = आकाशम् आद्यम् येषा ते खाद्या. = गगनादय. पदार्था: येन यस्मिन वा तत्खण्डनखण्डखाद्यम्' अर्थात् पदार्थादि खण्डन रूप से जिसमें आकाशादि पदार्थो का खण्डन किया गया हो, वह 'खण्डनखण्डखाद्य' है। (स) 'खण्डनरूपं यत्खण्डखाद्यं तत्खण्डनखण्डखाद्यं नाम ग्रंथ.' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है - वैद्यकशास्त्र में 'खण्डखाद्य' पाक विशेष का नाम है। यह जिस प्रकार रोगों को दूर करके रोगी में बल एवं पुष्टयादि का हेतु बनता है, उसी प्रकार यह 'खण्डन' ग्रंथवादियों के मतों का अक्षरश. खण्डन करने मे समर्थ होने की योग्यता उत्पन्न करता है। इस ग्रंथ का यही अर्थ सुन्दर मालुम होता है।

खण्डनखण्डखाद्य का विभाजन चार परिच्छेदों में किया गया है -

श्री हर्ष खण्डन का प्रारम्भ मंगलाचरण से करते है। उसके पश्चात् अति वैभवशाली भूमिका प्रदान करते हैं, जिसमें सर्वप्रथम उन्होंने प्रमाणादि स्वीकार के शास्त्रार्थ हेतुत्व का खण्डन किया है। तत्पश्चात् शून्यवाद तथा अद्वैतवाद (स्वप्रकाशवाद) का विवेचन कर दोनों में परस्पर भेद का निरूपण किया है। फिर अद्वैत का साधन और भेद का खण्डन किया है। श्री हर्ष के ग्रंथ निर्माण का प्रयोजन - तत्वनिर्णय और विजय बतलाते हुये बाद जल्य और वितण्डा शास्त्रार्थ के तीनों प्रकारों तथा शून्यवाद, अद्वैतवाद व भेदभाव सभी में खण्डनोक्त युक्तियों का एक सा उपयोग है, भूमिका को समाप्त करते हुये बतलाया।

भूमिका के पश्चात् ग्रंथ का मुख्य पतिपाद्य विषय प्रारम्भ करते हैं। प्रथम परिच्छेद में - लक्षण सामान्य का और कमश· प्रमा, प्रमाण एवं उसके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान,

शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि रूप छः प्रकारों के लक्षणों का खण्डन किया गया। इसके बाद असिद्ध, विरूद्ध, सव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाध इन पांच हेत्वभासों के लक्षणों का खण्डन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद में प्रतिज्ञाहानि प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध प्रतिबंदी और अपसिद्धान्त इन पाँच निग्रह स्थानों का खण्डन किया है।

तृतीय परिच्छेद में केवल किंशब्दार्थ के निर्वचन का खण्डन किया है। चतुर्थ परिच्छेद में भाव, अभाव, विशिष्ट, द्रव्य, गुण, कर्म विशेष, जाति (सामान्य) आधार, विषय-विषयी भाव, भेद, करणत्व, वर्तमानादि काल, प्रागभाव, ध्वंसाभाव, संशय, भावाभाव-विरोध और तर्क का खण्डन किया है। इस तरह कुछ प्रमुख पदार्थों का खण्डन करने के पश्चात् श्री हर्ष ने यह भी कह दिया कि जिन लक्षणों का विस्तार भय से यहाँ खण्डन नहीं किया गया है, उनका भी इन्हीं युक्तियों या इन्हीं के समान अन्य युक्तियों से खण्डन कर लेना चाहिये[11]।

खण्डन की टीकायें -

13वी शदी से लेकर 19वी शदी तक खण्डनखण्डखाद्य पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। उनमें से निम्नलिखित टीकाएँ उल्लेख योग्य हैं -

	टीकानाम		लेखक का नाम
1 -	खण्डनखण्डनम्	-	परमानन्द
2 -	खण्डनमण्डनम्	-	भवनाथ द्वितीय
3 -	खण्डनदीधिति	-	रघुनाथ शिरोमणि
4 -	खण्डन प्रकाश	-	वर्धमान
5 -	विद्याभरणी	-	विद्याभरण
6 -	(विद्यासागरी) खण्डनफक्किाविभजन	-	आनन्दपूर्ण विद्यासागर
7 -	खण्डनटीका	-	बलभद्र मिश्र पुत्र पद्मनाभ पंडित

---

11. ततुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे। खण्डन. पृष्ठ 579.

8 -	आनन्द बर्धनी (शकरी)	-	शंकर मिश्र
9 -	खण्डन दर्पण	-	शुभशंकर मिश्र
10 -	खण्डन महातर्क .	-	चरित्र सिह
11 -	खण्डनखण्डनम्	-	प्रगल्भ मिश्र - खण्डन दर्पण
12 -	शिष्य हितैषिणी	-	पद्मनाभ
13 -	खण्डन कुठार.	-	गोकुलनाथ उपाध्याय
14 -	खण्डनखाद्योद्धार	-	वाचस्पति मिश्र (द्वितीय)
15 -	खण्डनगर्त प्रदर्शनी	-	साधु मोहन लाल

इन व्याख्याओं में शांकरी अत्यन्त प्रसिद्ध है, किन्तु वह केवल तात्पर्य मात्र का प्रकाशन करती है, पूरी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करती है, जिससे पूरा पूरा लाभ पाठक को नहीं हो पाता है। उसके बारे में स्वयं टीकाकार शंकर मिश्र कहते हैं कि इसमें खण्डनखण्डखाद्य की कठिन गुत्थियाँ खोली गई है -

"ग्रंथग्रंथि विमोचनाय रचना वाचामिमं शांकरी"

आनन्दपूर्ण विद्यासागर कृत व्याख्या समीचीन और सुस्पष्ट है। यह अत्यन्त उपयोगी है। इसके बारे में टीकाकार स्वयं कहते है -

कथाख्यभूमिप्रचलत्प्रचण्डवादीभकुंभप्रविभेदतोत्रम् ।
रसावसिक्तं बुधमण्डनं यत्तत् खण्डनं व्याकरवाणि नीत्या।।

अर्थात् जिस खण्डनखण्डखाद्य में विद्वत मण्डल रस ले रहा है, उसकी व्याख्या मैं नीति पूर्वक कर रहा हूँ। उनका तात्पर्य पदच्छेद तथा पदार्थ विवरण सहित व्याख्यान करना है, क्योंकि व्याख्यान का अर्थ ही होता है -

पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यां सूत्रीय षड्विधा।।

उपर्युक्त इन पन्द्रह व्याख्याओं के अलावा भारतीय संस्कृति नं. 8 (चौखम्बा संस्कृत सीरीज) के आधार पर और अन्य व्याख्यायें हैं -

1 -	खण्डनभाव दीपिका	-	चित्सुखाचार्य
2 -	खण्डनभूषामणि	-	रघुनाथ भट्टाचार्य
3 -	खण्डन रत्नमालिका	-	सूर्यनारायण शुक्ल
4 -	'शारदा' 2 खण्डों में	-	शंकर चैतन्य भारती

इतने विद्वानों द्वारा खण्डन पर की गई टीकाओं का इतनी संख्या में होना खण्डन की प्राचीन काल से महत्ता तथा प्रसिद्धि का द्योतक है। इतना ही नहीं, विरोधी दार्शनिकों (शंकर मिश्र) अदि ने प्रभवित होकर इस पर टीका लिखा, जो खण्डन के आदर का सूचक है।

अन्य भाषाओं में खण्डनखण्डखाद्य के अनुवाद :-

हिन्दी में -

हिन्दी में खण्डनखण्डखाद्य के निम्नलिखित अनुवाद किये गये हैं :-

1 -	हिन्दी खण्डनखण्डखाद्य	- शांकरी व्याख्या सहित	-	स्वामी श्री हनुमानदास जी शास्त्री
2 -	हिन्दी खण्डनखण्डखाद्य	- हिन्दी व्याख्या	-	चण्डी प्रसाद शुक्ल अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी।
3 -	खण्डनखण्डखाद्य	- विद्यासागरी टीका सहित	-	अनुवादक स्वामी योगीन्द्रानन्द, वाराणसी।

अंग्रेजी में -

अंग्रेजी में डॉ. गंगानाथ झा ने पहले "इण्डियन थाट" में क्रमिक रूप से खण्डनखण्डखाद्य का अनुवाद किया था, जो बाद में पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुआ है।

खण्डन के टीकाकार -

खण्डनखण्डखाद्य के टीकाकार 2 वर्ग में बँटे हैं। एक वर्ग अद्वैतवादी टीकाकारों का और दूसरा वर्ग नैयायिक टीकाकारों का। नैयायिक टीकाकार भी 2 वर्गो में बँटे

है - एक वर्ग उन नैयायिकों है, जो अद्वैतवेदान्त का समर्थन करते हैं। इनमें रघुनाथ शिरोमणि प्रमुख है। दूसरा वर्ग उन नैयायिकों का है, जो अद्वैतवेदान्त का खण्डन करते है। इनमें शंकर मिश्र और प्रगल्भ मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं। इस परम्परा में वाचस्पति मिश्र द्वितीय और गोकुल नाथ भी आते हैं, जिन्होंने खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने के लिए स्वतंत्र ग्रंथ लिखे। इन दोनों नैयायिकों का खण्डन करते हुए रघुनाथ शिरोमणि के गुरू और चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी वासुदेव सार्वभौम लिखते है -

वाचस्पतिशंकरयोर्गौतमकृतबुद्धि शास्त्रगर्वितयो
निर्वापयामि गर्वमेकं ब्रह्मास्त्रमादाय ।।

अर्थात् ब्रह्मास्त्र (ब्रह्मवाद) का प्रयोग करते हुए मैं शंकर मिश्र और वाचस्पति मिश्र द्वितीय के गर्व को चकनाचूर कर दूँगा।[12]

(ख) नैषध चरित :

श्रीहर्ष द्वारा रचित 'नैषधीयचरितम्' संस्कृत साहित्य का श्रृंगार रस प्रधान उच्च कोटि का महाकाव्य है। यह अपने काव्य सौष्ठव के लिये प्रसिद्ध है। श्री हर्ष दार्शनिक शिरोमणि के साथ कवियों में भी श्रेष्ठ थे। साथ ही नैषध सर्वगुण सम्पन्न महाकाव्य है।[13]

नैषध की टीकायें :

नैषध की महत्ता उस पर की गई अनेक टीकाओं से भी प्रकट होती है। नैषध पर प्रसिद्ध 23 टीकाकारों का उल्लेख पं. शिवदत्त शर्मा ने नैषध की प्रस्तावना में किया है, जो इस प्रकार है -

---

12. देखिये, पहले उद्धृत ग्रंथ, शंकर मिश्र अद्वैत वेदान्त से न्याय का संघर्ष - पृष्ठ 98.
13. उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवाम्। दण्डिना: पद्लालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा।।
    तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः। उदिते नैषधे काव्ये क्वः माघः क्व च भारविः।।

1 - आनन्द राजानक - नैषधीय तत्वविबृन्ति

2 - दर्शनदेव - नैषध टिप्पण

3 - उदयनाचार्य (किरणावली रचयिता से भिन्न) - मनोहारिणी

4 - गोपीनाथ - हर्ष-हृदय

5 - चाण्डू पण्डित - नैषध दीपिका

6 - चरित्र वर्धन - तिलक

7 - जिनराज - सुखावबोध

8 - नरहरि - दीपिका

9 - नारायण - नैषधीय प्रकाश

10 - भागीरथ - भागीरथी

11 - भरतमल्लिक या भरतसेन - सुबोधा

12 - भवदत्त - सारसरस्वती

13 - मथुरानाथ शुक्ल - अपूर्ण टीका मिलती है।

14 - मल्लिनाथ - जीवातु

15 - महादेव विद्यावागीश

16 - रामचन्द्र शेष - भावद्योतनिका

17 - वशीवदन शर्मा

18 - विद्याधर - विद्याधरी या साहित्य विद्याधरी

19 - विद्याख्य योगी

20 - विश्वेश्वराचार्य - पदवाक्यार्थ पजिका

21 - श्री दत्त

22 - श्री नाथ

23 - सदानन्द

--0--

अध्याय द्वितीय

नैषधचरित और ईश्वराभिसन्धि का दार्शनिक मूल्यांकन

"प्रज्ञानं ब्रह्म"

- ऋग्वेद -

ऐत. उप. 5/1

नैषध चरित और ईश्वराभिसन्धि का दार्शनिक मूल्यांकन

श्री हर्ष से कुछ शताब्दी पूर्व ही भारतवर्ष ज्ञान विकास मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था । इसलिये किसी भी व्यक्ति को विद्वानो की कोटि मे आने के लिये यह आवश्यक था कि वह सर्वगुण सम्पन्न हो । अत श्री हर्ष ने अपनी दिव्य प्रतिभा के साथ "शास्त्रीय पण्डित्य प्रदर्शन" के लिये खण्डन खण्ड खाद्य जेसे दार्शनिक महाग्रथ को प्रस्तुत किया । साथ ही उन्होंने अपनी 'असाधारण प्रतिभा' को प्रदर्शित करने के लिये "नैषधीयचरितम्" महाकाव्य का सृजन किया । उनका नैषध उनके व्यवहार ज्ञान शास्त्र ज्ञान, काव्य ज्ञान आदि का जीता जागता चित्र उपस्थित करता है ।

राजशेखर ने कवियों के शास्त्र कवि, काव्य कवि तथा उभय कवि ये तीन भेद बतलाकर कहा है कि "शास्त्र ज्ञान से काव्य सौन्दर्य अवश्य बढता है" किन्तु शास्त्र की नितान्त परायणता से तो काव्य चारिता का ह्रास ही होता है । उसी प्रकार काव्य भावना शास्त्रीय वाक्यों की प्रौढता को सुन्दर रूप अवश्य देती है, किन्तु काव्य की नितान्त परायणता से शास्त्र ज्ञान का प्रचुर अर्जन हो ही नहीं सकता"[1] ।

अत राजशेखर के विचार में वह कवि जो शास्त्र ज्ञान की मणि को काव्य कंचन मे पिरो दे, उसे कवि एव शास्त्र कवि दोनों से श्रेष्ठ है[2] । श्री हर्ष ऐसे ही उभय कवि मे से है, उनका शास्त्रीय ज्ञान एवं काव्य प्रतिभा दोनो क्षेत्र अगम है ।

1. नैषधीयचरित : खण्डन खण्ड खाद्य का सहोदर -

श्री हर्ष दार्शनिक होने के साथ साथ उच्चकोटि के महाकवि भी थे । उनके द्वारा रचित नैषधीयचरितम् महाकाव्य है । जिसमें महाकाव्य होने वाले सम्पूर्ण गुण पाये जाते हैं ।

---

1 यच्छास्त्रसंस्कार काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकं प्रवणता तु निगृहणाति ।
काव्यसस्कारोपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरूणद्धि काव्यैक प्रवणता तु विरूणदि ।।
(काव्यमीमांसा 5 अध्याय)

2 उभयकवि स्तूभयोरपि वरीयान् यद्युभयत्र परं प्रवीण स्यात् । (वही)

प्रथम सर्ग मे दमयन्ती अनुरक्त नल का दिव्य हंस से भेंट। दूसरे मे हस का दमयती के पास नली की प्रशसा करने का वचन देना। तीसरे मे हस का कुण्डिनपुर मे दमयन्ती के समीप जाना तथा दमयन्ती से नल की प्रशसा करना। चौथे में प्रेम व्यधिता दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ। पाँचवे में नारद से दमयन्ती के भावी स्वयंबर का समाचार पाकर इन्द्र का अग्नि, यम और वरूण के साथ भूलोक को प्रस्थान तथा मार्ग में नल को देवदूत बनकर भीम के राजमहल मे प्रवेश करना तथा वहाँ पर दमयन्ती को देखना। सातवे मे अदृश्य नल द्वारा दमयन्ती का नख-शिख वर्णन। आठवे मे दूत रूप से नल का दमयन्ती के सामने चारों देवों मे किसी एक को पतिरूप मे चुनने का प्रस्ताव। नवे मे दमयन्ती का अपने नलानुराग को व्यक्त करना। दसवे में नल-प्राप्ति मे अनेक बाधाओं को सोचकर विबस हो उन्मुक्त रोदन। ग्यारहवे मे आये हुये सुरों, नागों तथा विदेशी राजाओं का वर्णन। बारहवे मे अन्य राजाओं का वर्णन। तेरहवे मे नल के वेश में बैठे चार इन्द्रादि देवताओं तथा नल का श्लेषमय वर्णन सरस्वती द्वारा। चौदहवे मे सत्य नल को वरमाला पहिनाना तथा देवताओं द्वारा वरदान देकर आकाशगामी होना। पन्द्रहवे में दमयन्ती तथा नल का विवाहोचित श्रृंगार तथा नल का बरात के साथ भीम-राजमहल को प्रस्थान। सोलहवे में विवाह संस्कार तथा बरातियों का सत्कार। सत्रहवे मे कलि का इन्द्र आदि देवों के साथ विवाद और चार्वाक मत का खण्डन - मण्डन तथा कलि का नल के उद्यान मे बहेडे पर विश्राम लेना। अठारहवे में नल दमयन्ती की सुरत-क्रीडा। उन्नीसवे मे प्रभाव वर्णन, नल का दैनिक कार्य करना। बीसवे में दमयन्ती के साथ दिन-यापन तथा सखियों का उपहास वर्णन। इक्कीसवे में मध्यान्ह पूजा तथा देवस्तुति। बाइसवे मे चन्द्रोदय वर्णन तथा ग्रथ समाप्ति।

इस प्रकार नैषध मे हमें नल और दमयन्ती के प्रेम का ही वर्णन मिलता है। यह प्रेम कैसे आरम्भ होताद है? क्या इसमें बाधायें आती हैं? केसे ये बाधायें दूर होती है? कैसे यह प्रेम लोक मर्यादा का रूप लेता है? इस प्रेम मे दमयन्ती का विवेक कितना सहायक है? नल का अविवेक पूर्वक मोहन-व्यापार कितना बाधक है किन्तु दमयन्ती के विवेक से प्रेम की चरम परिणति कैसे होती है? इस चरम परिणति का भोग कैसे होता है? इत्यादि का मूर्त वर्णन नैषधीयचरित में किया गया है।

नैषध के इस स्वरूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह महाकाव्य खण्डन खण्ड खाद्य का काव्य मय रूप ही है। श्री हर्ष ने प्रतीकात्मक महाकाव्य के रूप मे इसकी रचना की है।

श्री हर्ष ने इस महाकाव्य मे खण्डन खण्ड खाद्य की तर्क कर्मश वाणी को सुमधुर बनाया है। उन्होंने नल को नायक के रूप मे वर्णित किया है। जो ब्रह्म या आत्मा का प्रतीक है, तथा नायिका रूप में दमयन्ती को वर्णित किया गया है, जो जीव का प्रतीक है। दमयन्ती का स्वयम्बर मिथ्या देवों को पाकर जीव के द्वारा ब्रह्म के वरण का प्रतीक है। इन्द्र, अग्नि, वरूण और यम चार देवों को छोडना अद्धैत वेदान्त से भिन्न देवों को त्यागने का प्रतीक है।

श्री हर्ष ने नैषध मे नल कथा की सम्पूर्ण घटनाओं का वर्णन न करके केवल नायक के विवाह तथा उससे सम्बन्धित घटनाओं का ही वर्णन किया है। जो इस बात का प्रतीक है कि श्री हर्ष को किसी राजा-रानी की कहानी नहीं कहना था, बल्कि दार्शनिक विवेचन को काव्यमय रूप प्रदान करना था। उन्होंने इस स्वयम्बर के माध्यम से यह दिखलाया कि जीव किस प्रकार अनेक बाधाओं के उपस्थित होने पर भी ब्रह्म का वरण करता है। इस तरह नैषध वास्तव मे एक प्रतीकात्मक महाकाव्य है।

श्री हर्ष ने अपने समय में प्रचलित अनेक दर्शनों के मतों का खण्डन भी किया। स्वयम्बर मे बैठे हुये नल रूप देवताओं के कारण दमयन्ती असली नल को उसी प्रकार नहीं पहचान पा रही थी, जिस तरह अनेक दर्शनों के विचारधाराओं के मध्य अद्वैत तत्व को समझना मुश्किल हो जाता है।

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां तल्लसभशंसितिनि न पंचसकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड्विमतौ मतानामद्वैतत्व इव सत्यतरेअपि लोक.।।

(13/35)

जिस प्रकार सांख्य अदि भिन्न मतों के कारण सत् असत्, सद्सत् तथा सद्सद्विलक्षण इन चार प्रकार के सिद्धान्तों द्वारा मतैक्य स्थापित न हो सकने से लोगों को

अत्यन्त सत्य तथा इन चारों वादों से परे पंचम कोटिस्थ 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेहनानास्ति किचन' इत्यादि श्रुति प्रमाणित अद्वैत ब्रह्म मे आस्था नहीं हो पाती। उसी प्रकार दमयन्ती को भी कई नल होने के कारण नल विषयक संदेह होने पर पॉचवे स्थान मे बैठे हुये वास्तविक नल मे भी विश्वास न हुआ। क्योंकि दमयन्ती को पाने की अभिलाषा से चार समान रूप वाले पल उस विश्वास को होने ही नहीं देते थे। (ब्रह्म के विषय मे साख्यों का सत्, बौद्धो का असत्, नैयायिकों का सद्सत् तथा वेदान्तियों का सदसद् विलक्षण मत है।)

किन्तु इन बाधाओं के बावजूद भी दमयन्ती चारों कोटियों से परे अर्थात् चारों देवताओं को छोडकर पचम कोटि अर्थात् नल का वरण करती है, यह वरण वास्तव मे अनिर्वचनीय का वरण है।

इस तरह नैषध महाकाव्य के माध्यम से श्री हर्ष ने अपने अद्वैत दर्शन का काव्यात्मक रूप प्रस्तुत किया।

नैषध के सत्रहवे सर्ग में दार्शनिक विवेचनाये विशेष रूप से की गई है। श्री हर्ष के समय मे दार्शनिक विचारों मे बडी उथल-पुथल मची हुई थी। खण्डन खण्ड खाद्य की रचना तो विरोधी मतों के खण्डन में किया ही था। नैषध मे भी यहाँ पर विरोधी मतों का काफी उपहास किया। छठवे सर्ग को तो स्वयं श्री हर्ष ने ही खण्डन खण्ड खाद्य का सहोदर कहा है।[3]

वास्तव में कवि किसी काव्य की रचना किसी अन्तर्भावना विशेष से प्रेरित होकर ही करता है। उस काव्य का वही मूल उद्देश्य एव प्राण रूप होता है। अतएव श्री हर्ष महान दार्शनिक थे ही, उनके रोम-रोम में अद्वैत तत्व समाया हुआ था। इसलिये नैषध का उन्होंने प्रतीकात्मक काव्य के रूप मे सृजन किया तथा अपने अद्वैतिक विचारों का काव्यमय रूप दिया।

---

3 षष्ठ खण्डन खण्डतोअपि सहजात्क्षोदक्षमे
तन्महाकाव्ये चारूणि नैषधीयचरिते सर्गोअगमद्भास्वर ।
(नैषध 6/113 का उत्तरार्द्ध)

श्री हर्ष को कवि तार्किक चक्रवर्ती कहना सटीक है । उन्होंने जिस परम कुशलता से अनिर्वचनीयतावाद का प्रचार दार्शनिक रूप से खण्डन खण्ड खाद्य मे किया । उसी प्रकार कवि के रूप मे उन्होंने उसी अनिर्वचनीयतावाद के अनुसार एक प्रेमाख्यान तथा जीवन-पद्धति का चित्रण नैषधीयचरित मे किया । दार्शनिक अपने दर्शन को काव्यमय रूप कैसे देता है, इसके लिये श्री हर्ष एक अनुकरणीय दार्शनिक कवि है । उनके बाद हिन्दी के जायसी कुतबन, मन्झन आदि सूफी कवियों ने अपने काव्यों में अपने दर्शन को उतारा है ।

आधुनिक युग मे श्री अरविन्द घोष ने अपने दर्शन को जिस प्रकार 'लाइफ डिवाइन' नामक दार्शनिक ग्रथ मे व्यक्त किया है । उसी प्रकार उन्होंने 'सावित्री' महाकाव्य मे उसी दर्शन को काव्य-प्रतीकों मे व्यक्त किया है । दार्शनिक प्रतीक और काव्य प्रतीक का जैसा मनोरम साम्य श्री हर्ष के द्वारा सम्पन्न हुआ है, वैसा शायद अन्यत्र दुर्लभ है । अत उनको तार्किक कवि चक्रवर्ती कहना अक्षरश सत्य है ।

ईश्वराभिसन्धि

श्री हर्ष ने अपने खण्डन खण्ड खाद्य में अनेक स्थलों पर ईश्वराभिसन्धि का उल्लेख किया है । "खण्डन" के आधार पर ही इस ग्रथ की प्रतिपाद्य सामग्री का हम अनुमान करते है, क्योंकि यह अप्राप्य ग्रंथ है । इस ग्रथ के रचना काल के विषय मे भी अनेक सिद्धान्तों द्वारा अनेकानेक मत प्रस्तुत किये गये हैं । महामहोपाध्याय श्री राम मिश्र शास्त्री का कथन है कि "ईश्वराभिसन्धि" की रचना "खण्डन" के पश्चात् की गई है । श्री चण्डी प्रसाद शुक्ल दोनों का समकालीन मानते हैं । श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर "ईश्वराभिसन्धि" को अतिम रचना स्वीकार करते हैं । किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व उपलब्ध सामग्री का अवलोकन करना परमावश्यक है ।

1 - "खण्डन" में श्री हर्ष ने 7 स्थानों पर ईश्वराभिसन्धि का उल्लेख किया है । प्रथम परिच्छेद मे तीन प्रयोग किये हैं । जिनमे दो बार ईश्वराभिसन्धि के लिये भविष्यकाल का प्रयोग किया है । तृतीय स्थान पर भूतकाल का प्रयोग है । द्वितीय प्रकरण में इसका उल्लेख नहीं मिलता है । तृतीय परिच्छेद के अन्त में एक बार उल्लेख किया गया है । चौथे परिच्छेद में तीन बार उल्लेख किया है, तथा भूतकाल का ही प्रयोग किया है ।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह निश्चित होता है कि 'ईश्वराभिसन्धि' का रचनाकाल 'खण्डन' के समय मे ही प्रारम्भ हो गया था। 'ईश्वराभिसन्धि' के कुछ प्रकरण खण्डन के रचनाकाल मे ही लिखे गये रहे होंगे। शेष प्रकरण खण्डन के बाद रचे गये होंगे। किसी ने ठीक ही कहा है "दर्शन को हम दूसरे दर्जे का चिन्तन कह सकते हैं"। अर्थात् चिन्तन के सम्बन्ध मे चिन्तक श्री हर्ष ने भी खण्डन मे अनेक सासरिक प्रश्नों का उत्तर देने के पश्चात् दर्शन की ओर लेखनी उठाई होगी। ईश्वराभिसन्धि मे जो प्रकरण उल्लेखनीय है, उनका बहुत कुछ सम्बन्ध खण्डन से ही जान पडता है। आवश्यक भी होता है कि किसी ऊँचाई पर पहुँचने के लिये उसके प्रत्येक सोपानों पर से गुजरा जाय। खण्डन मे वर्णित विषय का मुख्य उद्देश्य विरोधियों पर विजय प्राप्त करना था।

नैयायिकों तथा मीमासकों द्वारा किये गये आक्षेपों का खण्डन करके उन्हे समूल नष्ट करना था। उनके प्रस्तुत विविध युक्तियों तथा लक्षणों एव पदार्थो का खण्डन कर "तार्किक चक्रवर्ती" उपाधि से विभूषित होना श्री हर्ष का परम उद्देश्य था। क्योंकि भारतीय न्यायशास्त्र में इस प्रकार का क्रातिकारी वर्णन गौरवपूर्ण समझा जाता था। किन्तु ईश्वराभिसन्धि के विषय मे खण्डन मे उल्लिखित प्रकरणों को अद्वैत स्थापना की सोपानें समझना चाहिये।

अन्तत हम इस निष्कर्ष पर आते है कि ईश्वराभिसन्धि खण्डन की समकालीन रचित होते हुये भी श्री हर्ष की अंतिम रचना है।

2 - तर्क, दर्शन का साधन मात्र होता है। ईश्वराभिसन्धि तक पहुँचने के लिये खण्डन उस औजार के समान है, जो चतुर्दिक प्रसारित वादरूपी घनघोर अटवी का विनाश करता है। अतएव ईश्वराभिसन्धि का रचनाकाल खण्डन के बाद ठहरता है।

3 - "दर्शन उस आन्तरिक बैचेनी की अभिव्यक्ति है, जो एक उच्च कोटि के मस्तिष्क और सशक्त कल्पना मे निहित होती है"। श्री हर्ष ने प्रकृति, राजा-रानी, अनेक सामाजिक रचनायें, महाकाव्य आदि लिखकर भौतिक जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हुये विरोधी विद्वानों के दार्शनिक विचारों का खण्डन में खण्डन कर सतुष्ट न हुये

होंगे तो लौकिक जगत से परे पारलौकिक आनन्द के विषय मे चिन्तन कर ईश्वराभिसंधि की रचना कर मण्डनात्मक विचार प्रस्तुत किये होंगे।

4 - श्री हर्ष ने अपने महाकाव्य नैषध चरित मे ईश्वराभिसंधि का कहीं भी उल्लेख नहीं किया, जबकि अपने अन्य सभी ग्रंथों का उल्लेख उसमे किया है । उन्होंने ईश्वराभिसंधि का उल्लेख खण्डन मे किया है, जिससे यह अनुमान होता है कि अगर ईश्वराभिसंधि खण्डन की ही समकालीन होती तो उसका भी उल्लेख कहीं न कहीं नैषध मे किया होता।

5 - श्री हर्ष ने खण्डन मे जहाँ भी ईश्वराभिसंधि का उल्लेख किया है, उससे पूर्णतया यह अनुमान होता है कि ईश्वराभिसंधि निश्चित ही अतिम रचना होगी, क्योंकि जो भी उल्लेख किये गये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि खण्डन में किये गये तर्कों से उच्च कोटि के तर्क उसमे विद्यमान होंगे। उसमें उच्च कोटि के तर्कों द्वारा विरोधी मतों का खण्डन किया होगा। साथ ही अनेकानेक मण्डनात्मक विचार प्रस्तुत किये गये होंगे।

6 - कुछ विद्वानों का कथन है कि ईश्वराभिसंधि खण्डन की समकालीन रचना है । अगर वे समकालीन इस दृष्टि से मानते हैं कि ईश्वराभिसंधि की रचना खण्डन के ही समय में प्रारम्भ हो गई थी, इसलिये समकालीन है तो यह कोई खास बात ही नहीं है, क्योंकि ये दोनों एक ही दार्शनिक की कृतियाँ है । अगर उनकी विचारधारा यह है कि ईश्वराभिसंधि के विषय मे वर्णित खण्डन के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वह खण्डन के साथ-साथ पूर्ण की गई थी तो इस मत से मैं सहमत नहीं हूँ। मेरा विचार तो यह है कि ईश्वराभिसंधि की रचना खण्डन के समय मे ही प्रारम्भ हो गई थी। जैसा कि खण्डन के तृतीय तथा चौथे परिच्छेदों से ज्ञात होता है, किन्तु उसकी समाप्ति खण्डन के पश्चात् अवश्य हुई होगी। हालांकि तृतीय तथा चौथे परिच्छेदों मे ईश्वराभिसंधि के लिये भूतकाल का प्रयोग किया गया है, किन्तु उनसे केवल खण्डनात्मक पहलू को ही सूचना मिलती है। यहाँ पर यह सोचना की बात है कि -

(1) अगर ईश्वराभिसंधि भी केवल खण्डनात्मक रचना रही तो खण्डन से अलग उसको लिखने की क्या आवश्यकता थी?

(ख) अगर उसको खण्डनात्मक रचना ही माने तो खण्डन को पूर्वार्द्ध तथा ईश्वराभिसंधि को ही रचना का उन्तरार्द्ध समझें।

अतएव मै यह मानता हूँ कि ईश्वराभिसंधि के निश्चित ही दो पक्ष रहे होंगे। पहला खण्डनात्मक, दूसरा मण्डनात्मक। खण्डन मे ईश्वराभिसंधि के खण्डनात्मक पक्ष के विषय में भविष्यात्मक तथा भूतकाल का उल्लेख मिलता है। यह ठीक भी है, क्योंकि खण्डनात्मक विचार रखते हुए अन्यत्र पाये जाने वाले विचारों को उद्धृत कर दिया। ईश्वराभिसंधि मे खण्डनात्मक पक्ष के अलावा मण्डनात्मक पक्ष भी अवश्य रहा होगा, जो कि अन्त मे लिखा गया रहा होगा।

ईश्वराभिसंधि की पुन रचना -

ईश्वराभिसंधि श्री हर्ष का अंतिम दार्शनिक ग्रंथ है। अप्राप्य होने के कारण इसके विषय में ठीक-ठीक विचार नहीं रखे जा सकते है, किन्तु मैं अधिक से अधिक प्रयास करूँगा कि इसमे निहित दार्शनिक विचारों का स्वरूप विद्वानों के सामने प्रकट हो सके। मुख्यतया ईश्वराभिसंधि के विषय सामग्री का निर्देशन श्री हर्ष के खण्डन मे अनेक स्थलों पर कर दिया है, जो निम्न प्रकार हैं -

1 - "करणव्यापार विषय कर्म इति चेन्न। 'हस्तनें रामेण शरेण' इत्यादावति प्रसंगात्। लक्षण विनपि क्रियाजनकत्वे सति व्यापारोद्देश्यत्वेन कर्मव्यवहारोपपत्ते। शेषञ्च ईश्वराभिसधौ स्वप्रकाशवादे निर्वक्ष्याम।"[4]

2 - "अस्तु वा प्रश्नोअयं यथा तथा श्रुतिरेवाद्वैते प्रमाणमिति बूम। श्रूयते खलु 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि। श्रुतिप्रामाण्य येश्वराभिसन्धौ साधयिष्यते।"[5]

यदि यह प्रश्न बन जाये कि अद्वैत में क्या प्रमाण है। तब भी छन्दोग्य (6/2/1) की 'नेह नानास्ति किचन' इत्यादि श्रुतियाँ ही अद्वैत में प्रमाण है। श्रुतियों के प्रामाण्य तथा स्वत. सिद्ध ब्रह्म की प्रतिपादक उपनिषदो के प्रामाण की सिद्धि तो 'ईश्वराभिसंधि' के करेंगे।

3 - "जल्पस्त्वेका कथा न सभवत्येवाऽसामयिकी, वितण्डाद्वयशरीत्वात् । अन्यथा जल्पद्वयेनापि किमित्येका कथा न कल्प्यते। अवोचाम च जल्प विचार प्रस्तावे विस्तरेणैतदिति "[6]

यदि जल्प वितण्डा द्वय शरीर होने से कथान्तर नहीं है तो वाद भी वितण्डा-द्वय-शरीर होने से अलग कथा नहीं कहलायेगा । एक मात्र वितण्डा ही कथा कहलायेगी । बाद ओर जल्प वितण्डा में फल-भेद है । अर्थात् वाद का फल तत्व निर्णय है और जल्प वितण्डा दोनों का विजय रूप एक फल । अतएव वह अन्य कथा है, किन्तु जल्प और वितण्डा मे तो फल भेद भी नहीं है । अत जल्प का वितण्डा मे अन्तर्भाव हो जाता है - वह अन्य कथा नहीं है । ये सब बातें हम 'ईश्वराभिसंधि' नामक ग्रंथ मे जल्प-विचार के प्रस्ताव मे कह चुके है ।

4 - "एवमीश्वराभिसन्ध्यादावपि तन्तस्थाने तिष्ठत्सर्वनामान्तरखण्डनमंत्र दृष्टव्यम् ।"[7]

इसी प्रकार ईश्वराभिसंधि नामक ग्रंथ के तत्-तत् प्रकरण मे लिया गया अन्य सर्वनाम शब्दों का खण्डन यहाँ भी समझ लेना चाहिये । अत उनका यहाँ खण्डन न करने से कोई न्यूनता नहीं है ।

5 - "ज्ञानकर्म त्वमित्यपि न ज्ञानेन कर्मणः सम्बन्धस्य निर्वक्तव्यत्वात् । तन्निरूक्तिभगश्च ईश्वराभिसन्धौ ज्ञात तागदेद्रष्टव्य ।"[8]

ज्ञान का कर्म विषय है, ऐसा लक्षण करेंगे । ज्ञान के साथ कर्म का क्या सम्बन्ध है, यह कहना होगा । किन्तु उसका निर्वचन नहीं कर सकते । यह बात "ईश्वराभिसंधि" नामक ग्रथ के ज्ञातवाद में स्पष्ट है, वही देख लेना चाहिये ।

6 - "दृष्टव्योदाहरणं चैतदीश्वराभिसन्धौ वेद प्रामाण्ये तथा, यथा न सौगतोअपि विप्रतिपत्तुर्महति ।"[9]

---

6 खण्डन, पृष्ठ 85, अच्युत ।
7 वही, पृष्ट 420, अच्युत ।
8. वही, पृष्ठ 467, अच्युत ।
9 वही, पृष्ठ 568, अच्युत. ।

ईश्वराभिसधि के वेद प्रामाण्य नामक प्रकरण मे उत्सर्ग का उदाहरण हगने इस प्रकार दिखलाया है, जिसमें बौद्ध भी विप्रतिपन्ति नहीं कर सकते।

7 - "सुगमासुगमयोर सुगमदुर्बलत्व कल्पनागौरवम्, दृष्टजातीयमपेक्ष्यादृष्टजातीय दुखेन प्रगोयते, स्वल्पमपेक्ष्य च वन्हिहति अखिल जनानुर्भासद्धमेतम् । दर्शित च किर्विच्येमीश्वराभिसन्धौ।"[10]

सुबोध और दर्बोध के मध्य दुर्बोध की दुर्बलता कल्पना गौरव है। दृष्ट जातीय की अपेक्षा अदृष्ट जातीय तथा स्वल्प की अपेक्षा बहुपदार्थ दु ख से जाना जाता है । यह सर्वसाधारण के अनुभव से सिद्ध बात है। इस कल्पना गोरव का उदाहरण "ईश्वराभिसधि" नामक ग्रंथ मे विवेचन पूर्वक दिखाया गया है।

8 ईश्वरसिद्धि। श्री हर्ष का यह प्रमुख दार्शनिक ग्रथ रहा होगा। खण्डन में उल्लेखित संदर्भो के आधार पर ही अधिकाधिक इस ग्रंथ के विषय में कहा जा सकता है तथा उसके स्वरूप के विषय मे अनुमान लगाया जा सकता है। यह एक मण्डनात्मक ग्रथ रहा होगा । क्योंकि प्रत्येक दार्शनिक के खण्डनात्मक एव मण्डनात्मक दोनों प्रकार के विचार हुआ करते हैं। श्री हर्ष अपने खण्डनात्मक विचार तो खण्डन खण्ड खाद्य मे ही प्रस्तुत कर चुके थे। अतएव अपने मण्डनात्मक विचार अवश्य ही ईश्वराभिसन्धि मे प्रस्तुत किये रहे होंगे।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि श्री हर्ष का दार्शनिक उद्देश्य वाद-विजय था। साथ वे प्रमाण लक्षणादि सभी का खण्डन कर सकते है कि हमारा कोई पक्ष ही नहीं है, तो उनका ईश्वराभिसंधि ग्रथ मण्डनात्मक कैसे हो सकता है।

(1) इस प्रश्न के उन्तर में मेरा अपना तो विचार यह है कि प्रश्न विचार उचित नहीं है, क्योंकि श्री हर्ष स्वय खण्डन में भौतिक सन्ता को अनिर्वचनीय कहते हुये भी उसकी व्यवहारिक सन्ता को स्वीकार करते हैं। जब वे व्यवहारिक सन्ता स्वीकार कर सकते हैं तो परमार्थिक सन्ता के लिये तो वे अपनी सम्पूर्ण खण्डन युक्तियों का ही प्रयोग किया है, तो उसके विषय मे मण्डनात्मक विचार अवश्य ही रखे होंगे। अपने अन्तिम दार्शनिक ग्रंथ ईश्वराभिसंधि में प्रस्तुत किये होंगे।

---

10. खण्डन, पृष्ठ 570, अच्युत. ।

(2) खण्डन में उल्लिखित सदर्भो से ज्ञात होता है कि ईश्वराभिसंधि मे श्री हर्ष के मण्डनात्मक विचार प्रस्तुत किये गये होंगे। हाँ इतना तो हम भी अवश्य मानते हैं कि परम तत्व तक पहुँचने तक विरोधियों के विचारों का खण्डन तो निश्चय ही करना पडता है।

(3) ईश्वराभिसंधि में अगर कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है तो श्री हर्ष का उसके लिखने का क्या उद्देश्य था। अगर केवल खण्डन युक्तियाँ ही प्रदान करना था, तो क्या वे खण्डन खण्ड खाद्य में नहीं दी जा सकती थीं। अतएव उद्देश्य की दृष्टि से भी ईश्वराभिसंधि का मण्डनात्मक स्वरूप स्पष्ट होता है।

(4) श्री हर्ष ने स्वयं खण्डन खण्ड खाद्य के अत मे सर्व खण्डन प्रकारोपदेश लिखा है। उसमे उन्होंने कहा है कि हमने विस्तार भय से जिन लक्षणों का खण्डन नहीं किया है, उन लक्षणों को मेरे द्वारा कहे गये खण्डनों के आधार पर विद्वान स्वय खण्डन करें।[11] भाव यह है कि उन्होंने अपने खण्डनात्मक विचारों का अन्त कर दिया, जो कुछ वे आवश्यक खण्डनीय समझते थे, उनका निराकरण खण्डन खण्ड खाद्य में ही कर दिया तब दूसरे ग्रंथ मे उन्हीं विचारों की पुनरावृत्ति समझना बुद्धिमन्ता की बात नहीं होगी।

अत श्री हर्ष का ईश्वराभिसंधि, दार्शनिक ग्रंथ मण्डनात्मक पक्षों से परिपूर्ण एक सुन्दरतम ग्रथ रहा होगा, जिसका अनुमान गगा यमुना में समाई सरस्वती की त्रिवेणी के समान आनन्दमय होगा।

बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत अनुमान द्वारा हमने ईश्वराभिसंधि के स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की, जिसमें निश्चय किया कि वह अवश्य ही एक मण्डनात्मक विचारों का दार्शनिक ग्रंथ रहा होगा। अब हम अन्त साक्ष्य के अन्तर्गत खण्डन खण्ड खाद्य में उल्लिखित निर्देशों के आधार पर ईश्वराभिसंधि के वर्ण्य विषय की चर्चा करेंगे।

---

11. एवं प्रकाराणि तत्तलक्षणेषु खण्डनान्यूहनीयानि। तदेतातु खण्डनयुक्तिषु कामपि स्थाना नात्यां केनापि प्रकारान्तरेणाअनीयं तत्सहशीभन्याहशीं वा स्वयमूहित्वा परै र्विविच्यमानानि पदार्थान्तराज्यपि बाधनीयीन्।

(खण्डन, पृष्ठ 578, अच्युत.)

ईश्वराभिसधि एक प्रकरण ग्रथ रहा होगा। उसमे लगभग 7 प्रकरण रहे होंगे, क्योंकि 6 प्रकरणों का उल्लेख खण्डन खण्ड खाद्य में ही किया गया है। उसके बाद सातवा प्रकरण उस ग्रथ के लिये परमावश्यक सा जान पडता है। वे प्रकरण इस प्रकार है -

1 - स्वप्रकाश प्रकरण।

2 - श्रुति प्रमाण प्रकरण।

3 - जल्प विचार प्रकरण।

4 - तत्-सत् प्रकरण।

5 - ज्ञातवाद प्रकरण।

6 - वेद-प्रमाण प्रकरण।

7 - ब्रह्म प्रमाण्य प्रकरण।

इन प्रकरणों के विषय का परिचय यों दिया जा सकता है -

1. स्वप्रकाश प्रकरण .

श्री हर्ष ने खण्डन खण्ड खाद्य मे स्व प्रकाश विज्ञान वाद विचार के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया है। इस प्रकरण मे उन्होंने क्रिया कर्म के भेद का निराकरण करके ज्ञान के लिये क्रिया कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है, पर प्रकाश डाला रहा होगा। ज्ञान स्वप्रकाश है। उसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होती है। इसी प्रकार अन्य विचार ज्ञान तथा ब्रह्म के विषय मे वर्णित किये रहे होंगे।

2. श्रुति प्रमाण प्रकरण :

इसका उल्लेख "खण्डन" के अद्वैत-प्रमाण-विचार" में मिलता है। इस प्रकरण मे श्री हर्ष ने ब्रह्म के विषय में दी जाने वाली श्रुतियों के प्रमाण्य तथा उपनिषदों के प्रामाण्य प्रतिपादन के लिये अपने विस्तृत विचार प्रस्तुत किये होंगे। उन्होंने ब्रह्म के विषय में कही गई श्रुतियों को प्रमाणिक सिद्ध करने के लिये प्रयास किये रहे होंगे। इसमे अनेक दार्शनिक आचार्यों के वाक्यों की यथार्थता का प्रतिपादन किया रहा होगा। इस प्रकरण में उन्होंने उपनिषदिक विचारों का उल्लेख कर उनके प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला रहा होगा।

3. जल्प विचार प्रकरण .

इस प्रकरण का उल्लेख "खण्डन" के प्रथम परिच्छेद के 'प्रयोजन प्रतिपादन' नामक सदर्भ मे मिलता है। इस प्रकरण मे श्री हर्ष ने कथा (वाद-विवाद) के भेदों पर प्रकाश डाला रहा होगा। कितने प्रकार के वाद-विवाद होते हैं? उनमे क्या अन्तर है? उनकी क्या सीमा है? उनके अलग-अलग क्या फल होते है? उनमें कहाँ तक यथार्थता या अयथार्थता है?

4. सर्वनाम खण्डन .

इस प्रकरण का उल्लेख 'खण्डन' के तृतीय परिच्छेद के सर्वनामार्थ खण्डन में मिलता है। इसमे उन्होंने सर्वनाम-शब्दों के खण्डन का निर्देश किया है। उन्होंने इस प्रकरण मे अनेकानेक सर्वनाम शब्दों का खण्डन कर ब्रह्म का प्रतिपादन किया होगा। ब्रह्म को स्वयं प्रकाश, नित्यं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया होगा। इस प्रसंग मे स्वयं श्री हर्ष ने कहा है कि निर्विकल्पात्मक ज्ञान का निराकरण नही किया जा सकता है। उसके विषय में भ्रम नहीं किया जा सकता है। वह भ्रम प्रमाण से बहिर्भूत नहीं है।

5. ज्ञातवाद प्रकरण .

इस प्रकरण का उल्लेख खण्डन के चतुर्थ परिच्छेद के विषय-विषयीभाव - लक्षण के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकरण में श्री हर्ष ने ब्रह्म प्राप्ति के साधनों का उल्लेखं किया होगा। ब्रह्म प्राप्ति के साधन कितने हैं? उनमें आपस मे क्या सम्बन्ध है? उनमे क्या भेद हैं? आदि का विवेचन किया गया होगा। इस प्रकरण में ब्रह्म प्राप्ति साधन पर ही गम्भीरता पूर्वक प्रकाश डाला रहा होगा।

6. वेद प्रामाण्य प्रकरण :

इस प्रकरण का उल्लेख चतुर्थ परिच्छेद के 'अप्रसगात्मक तर्क निरूपण' के अन्तर्गत मिलता है। इस प्रकरण में श्री हर्ष ने विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा किये गये वेदों पर आक्षेप का खण्डन किया होगा। उसमें तर्क के अनेक प्रकारों का अन्तर स्पष्ट किया होगा तथा उनके स्वरूपों एवं उनकी सीमा के निर्धारण का विवेचन किया रहा होगा।

7. ब्रह्मवाद प्रकरण

इस प्रकरण का उल्लेख कहीं भी नही मिलता है । खण्डन मे केवल 6 प्रकरणों का ही उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु हम ईश्वराभिसंधि को केवल 6 ही प्रकरणों का ग्रथ मानें, यह उचित सा नहीं जान पडता है, क्योंकि -

1 - जिस अभिप्राय से ईश्वराभिसंधि की रचना की पुष्टि होती है, उसका उल्लेख ही न हो, ऐसा ठीक नहीं । ब्रह्म प्रतिपादन के लिये ही मुख्यत ईश्वराभिसंधि की रचना की गई तो उसे इस प्रकरण से क्यों वचित रखा जाय ।

2 - केवल साधनों का ही वर्णन करना साध्य की पूर्णतया उपेक्षा कर देना उचित नही जान पडता है । श्री हर्ष ने ईश्वराभिसंधि में ब्रह्म प्रतिपादन के जितने साधन हैं, उनका उल्लेख किया है, तो उनका साध्य परम तत्व ब्रह्म है । उस पर विचार न किया होगा, अवश्य किया होगा । अत ब्रह्मवाद प्रकरण अवश्य लेना चाहिये ।

ब्रह्मवाद के विषय मे यह प्रश्न किया जा सकता है कि अन्य प्रकरणों का उल्लेख तो श्री हर्ष ने खण्डन मे किया था, किन्तु इसका क्यौं नहीं किया ? तो इसका साधारण सा उन्तर है कि जिन प्रकरणों का उल्लेख श्री हर्ष ने खण्डन में किया है, वे प्रसग आ जाने के कारण उल्लिखित हैं, किन्तु खण्डन में ऐसा कोई प्रसंग नहीं आया, जहाँ ब्रह्मवाद प्रकरण का उल्लेख किया जाय ।

ब्रह्मवाद प्रकरण मे श्री हर्ष, ब्रह्म के विषय में पूर्णरूपेण विवेचन किया रहा होगा । ब्रह्म क्या है ? ईश्वर क्या है ? दोनों मे क्या अन्तर है ? आदि का विवेचन किया होगा ।

अन्त में हम ईश्वराभिसंधि के स्वरूप को संक्षिप्तत· इस प्रकार रख सकते हैं । ईश्वराभिसंधि श्री हर्ष की अंतिम रचना रही होगी । यह एक मण्डनात्मक विचारों का ग्रंथ रहा होगा । इसका सात प्रकरणों में विस्तार वर्णन रहा होगा, जो निम्न प्रकार हो सकता है -

1 - जल्पविचार प्रकरण ।

2 - वेद प्रामाण्य प्रकरण ।

3 - श्रुति प्रमाण्य प्रकरण ।

4 - स्व प्रकाश प्रकरण ।

5 - सर्व नाम प्रकरण ।

6 - ज्ञातवाद प्रकरण ।

7 - ब्रह्मवाद प्रकरण ।

-0-

अध्याय तृतीय

श्री हर्ष की तर्क प्रणाली

"अहं ब्रह्मास्मि"

- यजुर्वेद -

वृ. उप. 1/4/10

श्री हर्ष की तर्क प्रणाली

1 - खण्डन युक्ति का विषय और प्रयोजन :

श्री हर्ष का प्रमुख प्राप्तव्य दार्शनिक ग्रंथ "खण्डन खण्ड खाद्य" है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह एक खण्डनात्मक ग्रथ है। श्री हर्ष ने अपने सम्पूर्ण दार्शनिक विवेचन मे प्राय खण्डनात्मक शैली का ही प्रयोग किया है। वे परम अद्वैतवादी हैं। वे ब्रह्म के अलावा सम्पूर्ण बुद्धिगम्य पदार्थों को मिथ्या बताते है, तथा प्रत्येक लक्षण तथा प्रमाण का खण्डन करते है। उनका अपना कोई निजी पक्ष नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वत सिद्ध है और उसी का सहारा लेकर अखिल भौतिक भवन को ढहा देते हैं।[1]

श्री हर्ष के प्रमुख विरोधी प्राय नैयायिक दार्शनिक है, और उन्हीं के द्वारा दिये गये लक्षणों एव प्रमाणों का स्पष्ट रूप से खण्डन भी किया है, किन्तु उनका खण्डन नैयायिकों तक ही सीमित न रहकर उन सब मतों पर व्यवहरित होता है, जो द्वैत को सिद्ध करना चाहते हैं।

श्री हर्ष स्वय कहते है कि उनके खण्डनों की द्वैत-निवृत्ति द्वारा अद्वैत की सिद्धि मात्र मे उपकारता है, फिर भी इनका उपयोग अभीष्ट सिद्धि के लिये इच्छानुसार अपने अपने सिद्धान्त की सिद्धि या खण्डन मे इन युक्तियों का सहारा लिया जा सकता है।[2] साथ ही इन खण्डन युक्तियों के सदृश्य अन्य खण्डन युक्तियों की भी कल्पना की जा सकती है और यदि खण्डन युक्तियाँ शेष होने लगें तो खण्डन श्रृखला का पुनर्योजन करना चाहिये।[3]

---

1 एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयत क्वचित्।
(खण्डन पृष्ठ 64, अच्युत)

2. अभीष्ट सिद्धावपि खण्डनानामखण्डिराज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तन्तानि कस्मान्न्र यथाभिलाषं सैद्धान्तिकेअप्यध्वनि योजयध्वम्।।
(खण्डन, पृष्ठ 82, अच्युत)

3 तन्तुल्योहस्तदीय च योजनं विजयान्तरे।
श्रृखला तस्य शेषें च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया।।
(खण्डन, पृष्ठ 579, अच्युत)

श्री हर्ष कहते है कि हमारा अपना कोई पक्ष नहीं, कोई मत नहीं, साथ ही कोई वाद नहीं। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि श्री हर्ष का जब कोई वाद नहीं, तब ये प्रपच को अनिर्वचनीय कैसे कहते है? सम्पूर्ण जगत लक्षणों का खण्डन कैसे किया जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्री हर्ष कहते है कि हम प्रपच की अनिर्वचनीयता को भी अपना पक्षा मानकर उसकी पुष्टि नहीं करते। यह भी नहीं कहते कि "प्रपच अनिर्वचनीय है" इस निर्वचन को छोडकर अन्य सब निर्वचन मिथ्या है, जो सम्पूर्ण प्रपच को अनिर्वचनीय कहता है, वह 'अनिर्वचनीयत्व' को भी अनिर्वचनीय ही कहेगा, क्योंकि प्रपच के भीतर अनिर्वचनीयत्व भी आ ही जाता है।[4] इस तरह श्री हर्ष अपने तर्क प्रणाली का प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, वे यहाँ तक कह डालते है कि अद्वैत मे वाद-विवाद के लिये कोई स्थान नहीं। हमारा यह कथन कि "समस्त विश्व प्रपच सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या है" परकीय रीति से है, हमारे प्रति पक्षी की दृष्टिकोण से है, व्यावहारिक स्तर पर उतर कर है।[5]

श्री हर्ष की इस प्रकार की खण्डनात्मक तार्किक प्रणाली द्वन्द्वात्मक - तर्कवादियों मे सर्वोपरि है। इस प्रणाली मे बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति आदि आते है। पाश्चात्य आधुनिक दार्शनिकों में ब्रैडले तथा तार्किक भाव वादी आते है। अरब दार्शनिक अलगज्जाली, इब्न रोश्द आदि है, किन्तु समीक्षा करने पर इतने खरे सिद्धान्त, कसौटी पर नहीं उतर पाते हैं।

श्री हर्ष जिस तत्व का विवेचन प्रारम्भ करते है, उसके कई विकल्प बनाकर के उसके प्रत्येक पहलू का भली-भाँति परीक्षण करते है और अन्तत अपने निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, किन्तु और इस परम्परा में आने वाले दार्शनिक इतना गम्भीर विवेचन किसी तत्व का नहीं कर पाते हैं।

---

4. यो हि सर्वमनिर्वचनीय सदसत्त्वं ब्रूते, स कथमनिर्वचनीयतासत्त्वव्यवस्थितौ पर्यनुयुज्येत, सापि हि कृत्स्नप्रपंचपरसर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव।
(खण्डन, पृष्ठ 44, अच्युत.)

5. तत परीकीयरीत्येदमुच्यते----- अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्यवस्यतीति।
(खण्डन, पृष्ठ 48, अच्युत)

2 - खण्डन युक्ति की विशेषताएँ

(क) यह खण्डन पद्धति वितण्डावाद नहीं है ।

श्री हर्ष इस खण्डन पद्धति का प्रयोग अपने अद्वैतवाद सिद्धि के लिये ही करते हैं । वे किसी मत के केवल खण्डन में ही नहीं अपना ध्यान रखते हैं, बल्कि अपने सिद्धान्त के रास्ते में आने वाली सभी अडचनों को समाप्त करते हैं । जिसकी वजह से उनकी खण्डन पद्धति को वितण्डावाद नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि वितण्डावाद में पर मत की बुराइयों को ही उखाडना वादी-प्रतिवादी का ध्येय होता है, उसका फल वादि विजय होता है । किन्तु श्री हर्ष ने अपने खण्डन पद्धति मे ऐसा नहीं किया है । वे अपने प्रतिवादियों के विचारों के एक एक लक्षणों का बड़ी बुद्धिमन्ता के साथ खण्डन करके अपने विचारों को सिद्ध करते है ।

श्री हर्ष का कथन है कि तत्व का निश्चय करने वाले परीक्षकों को तो अवश्य ही इन खण्डन युक्तियों का आश्रयण करना चाहिये, क्योंकि जब तक इन खण्डन युक्तियों से परमत का खण्डन न हो, तब तक तत्व का निश्चय हो ही नहीं सकता ।[6] इसलिये वाद मे भी खण्डन युक्तियों का प्रयोग हो सकता है ।

इस तरह हम देखते है कि स्वय श्री हर्ष ने अपने खण्डन-पद्धति का प्रयोग 'वाद' में भी बताया है, जो वस्तुत उचित प्रतीत होता है । क्योंकि जब तक जगत को मिथ्या नहीं सिन्द्र किया जायेगा, तब तक अद्वैत की सिन्द्रि कैसे हो सकती है, क्योंकि जगत के भी सत् कहने पर द्वैत हो जायेगा ।

अत अद्वैत की सिद्धि के लिये जगत को मिथ्या सिद्ध करने के लिये खण्डन-पद्धति का प्रयोग किया । दूसरे श्री हर्ष का उद्देश्य केवल वादि-विजय ही नही था, अपितु तत्व निर्णय अर्थात् अद्वैत की स्थापना भी था ।

---

6 वस्तुस्थितिं कुर्वाणेन च विचारकेणाऽवश्यमेता युक्तय उद्धरणीया अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति वादेअपि प्रयोग सभवत्भेव खण्डनयुक्तीनाम् ।

(खं चौखम्बा, पृष्ठ 128)

अत उनकी खण्डन पद्धति को वितण्डावाद नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक तरफ तो अद्वैतवादियों के मतों का खण्डन, दूसरी तरफ स्वमत अद्वैतवाद का स्थापन ही श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का उद्‌देश्य था। इस तरह श्री हर्ष अपने अद्वैत की स्थापना पर पक्ष का खण्डन अपने खण्डन-विधि द्वारा करते थे। जिसके कारण उन्हें वितण्डावादी या वैतण्डिक नही कहा जा सकता है। इसके साथ ही न उनकी पद्धति को वितण्डावाद कहा जा सकता है।

अभिपेत्य पक्षं यो न स्थापयति स वैतण्डिक. उच्यते।

(न्याय वार्तिक उद्यो पृष्ठ 16)

'स प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा।'   --   गौतम

स्वपक्ष स्थापना हीना कथा परपक्षदूषण मात्रावसाना।

(न्याय भाष्य - 1/1/1)

(ख) यह खण्डन पद्धति चतुष्कोटि न्याय-पद्धति नहीं है -

चतुष्कोटि न्याय पद्धति बौद्धिकों द्वारा सर्वप्रथम अपनाई गई थी। इसमें किसी लक्षण के चार पद बनाये जाते हैं। अन्तत उसको गलत सिद्ध किया जाता है। जैसे अस्ति, नास्ति, उभय अस्ति, उभय नास्ति।

किन्तु श्री हर्ष की खण्डन पद्धति इस प्रकार नहीं है। वे अपनी खण्डन पद्धति मे किसी भी प्रमाण या प्रमेय के खण्डन मे उसके अनेक विकल्प बनाते हैं, और उन विकल्पों के कई पक्ष बनाकर उनको मिथ्या सिद्ध करते है। इस तरह श्री हर्ष की खण्डन पद्धति में केवल चार कोटियाँ ही न होकर कम या ज्यादा भी विकल्प बन जाते है।

दूसरे चतुष्कोटि न्याय पद्धति में किसी प्रमेय को शून्य नि.स्वभाव सिद्ध किया जाता है। किन्तु श्री हर्ष की खण्डन पद्धति में किसी प्रमेय को नि.स्वभाव नहीं सिद्ध किया जाता, बल्कि लक्षण विहीन होने के कारण अनिर्वचनीय सिद्ध किया जाता है।[7]

---

7 सौगत ब्रह्मवादिसनोंश्यं विशेष - यददिभ सर्वमेव अनिर्वचनीयं वर्णयति।

(खण्डन, पुष्ठ 42, अच्युत)

सभी वस्तुये भगवान से अनन्य है। अन्यथा सभी वस्तुये अनिर्वचनीय हैं।

दूसरा भेद लगता है कि चतुष्कोटि न्याय तत्व मीमांसा के पदार्थों के आलोचना करने की पद्धति है। श्री हर्ष की 'वाद-विधि' ज्ञान मीमासा के पदार्थो की परीक्षा करने की विधि है। यह उल्लेखनीय है कि श्री हर्ष के पूर्व किसी ने ज्ञान-मीमांसा के पदार्थों के परीक्षण की विधि नहीं निकाली थी। श्री हर्ष ने प्रमाणों और प्रमेयों के लक्षणों की आलोचना की और एक ऐसी पद्धति निकाली, जिसे लक्षण-परीक्षण पद्धति कहा जा सकता है।

वाद की परिभाषा -

'प्रणाम तर्क साधनोंपलम्भ. सिद्धान्ताविरूद्ध पंचावयोपपन्न पक्ष प्रतिपक्ष परिग्रहो वादः।'

(गौतम न्याय सूत्र 1/2/1)

तत्व निर्णय फलः कथा विशेषः (वाद)

(सर्व दर्शन संग्रह, अक्षमाद अध्याय)

(न्याय कोष, पृष्ठ 734)

(ग) यह खण्डन पद्धति 'नेति-नेति' की प्रणाली नहीं है।

उपनिषदों में वर्णित नेति-नेति की प्रणाली में ब्रह्मवाद को सिद्ध किया गया है। इस प्रणाली में ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये 'यह ब्रह्म नहीं है', 'वह ब्रह्म नही है' ऐसा ही विवेचन किया गया है। इस पद्धति में किसी वस्तु की तार्किक विवेचना नही प्रस्तुत की जाती है।

श्री हर्ष ने भी अपने खण्डन पद्धति के द्वारा अद्वैतवाद की स्थापना की है। वे प्रत्यक्ष रूप से किसी पदार्थ को यह नहीं कहते हैं कि यह अद्वैत नहीं है, बल्कि उसका मण्डन इस प्रकार करते हैं। सारा जगत मिथ्या है। इस मिथ्यत्व को दिखाने के लिये प्रत्येक प्रमाण, प्रमेय के लक्षण का खण्डन कर देते हैं और सिद्ध कर देते हैं कि यह लक्षण दुर्व्याख्येय है और लक्षण न होने की वजह से पदार्थ को मिथ्या सिद्ध कर देते हैं। सब पदार्थों के मिथ्यत्व को सिद्ध करके अप्रत्यक्ष रूप से अद्वैतवाद की स्थापना करते हैं।

श्री हर्ष की खण्डन पद्धति विवेचनात्मक होती है । इस पद्धति मे किसी लक्षण की सूक्ष्म विवेचना की जाती है । किसी भी पदार्थ के सभी सभावित लक्षणों की उद्भावना करके उनका खण्डन करते है, और उस पदार्थ को अनिर्वचनीय सिद्ध करते है ।

नेति नेति प्रणाली मे खण्डन का आधार ब्रह्मज्ञान है, किन्तु श्री हर्ष के खण्डन प्रणाली मे खण्डन का आधार अनिर्वचनीय ज्ञान है । एक प्रकार से यह नेति नेति प्रणाली का ही विकास है । दोनों का प्रतिपाद्य एक ही है । नेति-नेति विधिक कहती है कि कोई विषय आत्मा नहीं है और श्री हर्ष की विधि कहती है कि प्रत्येक विषय अनिर्वचनीय है । श्री हर्ष की पद्धति मे विषयता के स्वरूप का उद्घाटन किया गया है ।

(घ) यह खण्डन पद्धति 'अभ्युपगमों' का परीक्षण है ।

श्री हर्ष अपने खण्डन पद्धति के द्वारा 'अभ्युपगमों' की यथार्थता का परीक्षण करते हैं । वे अपने प्रतिवादी के किसी भी कथन की क्या मान्यतायें है, का सूक्ष्म विवेचन करके ही अतिम निष्कर्ष पर पहुँचते है । यही कारण है कि वे प्रत्यक्ष आदि के लक्षणों की विवेचना मे कभी-कभी बीस से भी अधिक विकल्प बनाते हैं तथा एक एक का परीक्षण करके सिद्ध करते हैं, सब लक्षण गलत हैं ।

श्री हर्ष खण्डन पद्धति द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो लोग जगत को सत् मानते हैं, उनका कथन मिथ्या है, क्योंकि जगत के किसी भी पदार्थ का लक्षण नहीं किया जा सकता है और लक्षण न होने से पदार्थ मिथ्या है । किन्तु तब बुद्धि की मान्यता व्यवहार तक ही सीमित होती है । इसलिये वे कहते हैं कि व्यवहारत. किसी पदार्थ की सत्ता हम मानते हैं, क्योंकि वह व्यवहार मे सत् पाये जाते हैं, किन्तु परमार्थत लक्षण न हो सकने के कारण मिथ्या है ।

(ङ) यह खण्डन पद्धति लक्षण या निर्वचन का खण्डन है ।

श्री हर्ष ने अपनी खण्डन पद्धति के द्वारा किसी पदार्थ को असत् नही कहा है, बल्कि उसे मिथ्या सिद्ध किया है, क्योंकि किसी वस्तु का लक्षण ही सिद्ध नहीं हो पाता है ।

उनका कथन है कि किसी वस्तु को यह नहीं कहा जा सकता है कि वह इस प्रकार है, उसका यह लक्षण है।

3 - यह खण्डन पद्धति स्वभावत अनेक विकल्पों को पुर.सर करके चलती है।

किसी भी सिद्धान्त के खण्डन मे श्री हर्ष सर्वप्रथम उसके कई विकल्प बनाते हैं। उसके अनन्तर उनके औचित्य पर सूक्ष्म परीक्षण प्रस्तुत करते है। अपने 'खण्डन' मे मगलाचरण के पश्चात् प्रमाणादि स्वीकार का कथागात्व खण्डन पर विचार करते हैं और चार विकल्प चुनते हैं। और उन्हीं के परीक्षण के सहारे आगे बढते है। उन विकल्पों के कई पक्ष बनाते हैं और फिर उनका खण्डन करके यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वाग्व्यवहार में वाग्व्यवहार का नियम ही कारण है। प्रमाणादि की सत्ता का स्वीकार नहीं। इसी तरह अनुभूति खण्डन मे चार विकल्प बनाते हैं - अनुभूति क्या है? क्या वह ज्ञानत्व-व्याप्य जाती है, स्मृति से भिन्न ज्ञानत्व है, स्मृतित्वाभावात् ज्ञानत्व है अथवा स्व से अव्यवहित पूर्वक्षण मे होने वाली उत्पत्ति से नियत है। असाधारण कारण, जिसका ऐसा बुद्धित्व है और इनका एक एक का विधिवत निरीक्षण करते है।

इस तरह अन्य स्थानों पर भी सर्वप्रथम उस सिद्धान्त से सभावित विकल्प बनाते हैं और फिर उनका विधिवत् परीक्षण करते हैं।

4 - वास्तव में यह पद्धति एकरूप सत्य की खोज है।

हमने उपरोक्त विवेचन में देखा कि श्री हर्ष द्वारा अपनाई गयी यह खण्डन पद्धति वास्तव में एक उत्तम पद्धति है, जो अब तक अपनाई गई दार्शनिकों की पद्धति मे सर्वोत्तम है तथा सब मतानुयाइयों द्वारा अपनाई जाने योग्य है, जैसा कि स्वयं श्री हर्ष ने कहा भी है कि यद्यपि हमने अद्वैत सिद्धि के लिये ही खण्डन युक्तियाँ कही हैं, फिर भी अपनी अपनी इच्छानुसार तत् तत् सिद्धान्त की सिद्धि या खण्डन में इन खण्डन युक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं।[8]

---

8 अभीष्ट सिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिवनैवमाज्ञा।
तन्तानि कस्मात्र यथाभिलाषं सैद्धान्तिकेअप्यध्वनियोजयध्वम्।।

(खं पृ. 82, अच्युत)

श्री हर्ष ने इस पद्धति के द्वारा अपने अभीष्ट को अर्थात् अद्वैत-सिद्धि की प्राप्ति की है । श्री हर्ष ने द्वैतवादियों के सिद्धान्त जिसमे जगत को सत्य माना जाता है, खण्डन किया। क्योंकि मानव दु ख का कारण जगत के भौतिक पदार्थों का सत्य मानना ही है । सत्य, सुखद सुन्दर समझी गई वस्तुओं मे ही प्राय ममता तथा वासना होती है और असत्य समझी जाने वाली वस्तुओं की तरफ लोगों का आकर्षण नहीं होता है । जैसे चाहे जितना प्रिय व्यक्ति हो, किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र अंतिम संस्कार लोग करना चाहते है । इसलिये श्री हर्ष ने जगत को मिथ्या कहकर एक अद्वैत को सत्य बतलाया। इस अद्वैत से लोगों का लगाव तभी हो सकता था, जबकि जगत के द्रव्यों को लक्षणविहीन सिद्ध करके उन्हे मिथ्या बताया जाता। श्री हर्ष की यह खण्डन पद्धति जगत को अनिर्वचनीय सिद्ध करने मे पूर्णतया सफल रही है ।

इस पद्धति का प्रयोग प्रत्येक सिद्धान्त को मानने वाला अपने मत की दृष्टि मे कर सकता है, क्योंकि हर व्यक्ति किसी न किसी लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहता है । उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये श्री हर्ष की पद्धति उचित मार्ग दर्शन कर सकती है, क्योंकि इसके प्रत्येक तत्व का सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है, तब उसका उचित स्वरूप स्वभावत स्पष्ट हो जाता है । अत उस समय हर व्यक्ति अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है ।

इस पद्धति में किसी तत्व के अनेक विकल्प बना करके उनमे जो सगत ठहरता है, उसको चुना जाता है । इस तरह यह पद्धति एक सुसंगति की खोज है ।

5 - नकारात्मक निष्कर्ष का महत्व -

(क) नकार किसी सकार को सिद्ध करता है ।

श्री हर्ष का नकार जगत् नाशवान् पदार्थों के विषय में है। वे द्वैत का खण्डन अत्यन्त दृढता के साथ किया, जिससे स्वत. अद्वैत सिद्धि मे उनको सफलता मिली, क्योंकि दो पक्षों में एक के असिद्ध हो जाने से दूसरे की सिद्धि अपने आप हो जाती है । जैसे रात के न होने पर दिन अवश्य ही रहता है । वैसे ही द्वैत के खण्डित हो जाने पर अद्वैत का मण्डन अपने आप हो जाता है ।

श्री हर्ष स्वय कहते हैं कि विधि या निषेध इन दोनों में से एक के खण्डन से अन्य की सिद्धि होती है।[9] इसी बात को उदयनाचार्य भी मानते है कि सत् असत् से विलक्षण तृतीय पक्ष का आश्रयण तो व्याघात होने के कारण असगत है।[10]

(ख) नकार अज्ञान को दूर करता है।

ससार के सत्यता के विषय मे जो लोगों को भ्रम होता है कि ये सारी वस्तुये हमारी हैं। हमको आनन्द देने वाली हैं। इन्हीं के द्वारा हमारा हित सभव है। उनका निराकरण श्री हर्ष के नकार द्वारा हो जाता है। संसार के प्रत्येक तत्व को लक्षणविहीन सिद्ध कर देने पर लोगों के मन मे स्थित अज्ञानता दूर हो जाती है और उसके समझ में आ जाता है कि हम जिस चीज मे अपना कल्याण देखते थे, वास्तव मे वह वस्तु हमारे लिये बन्धनकारी एवं दु खदायी है।

(ग) नकार तर्क को अप्रतिष्ठित सिद्ध करता है।

नकार के द्वारा सभी वस्तुये लक्षण विहीन सिद्ध हो जाती है। तर्क की पहुँच भौतिक जगत तक ही होती है। अत उसकी भी प्रतिष्ठा लक्षणों के साथ ही असिद्ध हो जाती है।

लक्षण का खण्डन, प्रमाण का खण्डन, प्रत्यक्ष का खण्डन, विषयभाव का खण्डन (प्रमेय का खण्डन), भाव का खण्डन, सप्त पदार्थ का खण्डन (दुख, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव) तथा देश काल का खण्डन करके श्री हर्ष ने सिद्ध किया है कि इन विषयों के न तो कोई लक्षण हैं और न इनके लिए कोई प्रमाण ही है।

--0--

---

9 विधिनिषेधयोरेकतरनिरासस्य इतरपर्यवसायितायास्तेनाभ्युपगमात्।

(खण्डन पृष्ठ 44, अच्युत)

10 परस्पर विरोधे हिं न प्रकारान्तरस्थितिरिति।

(खण्डन पृष्ठ 44, अच्युत.)

अध्याय चतुर्थ

सामान्य खण्डन विधि

"तत्त्वमसि"

- सामवेद -

छा. उप. 6/8/7

सामान्य खण्डन - विधि

1. लक्षण का खण्डन :

तर्किक चिन्तन का आरम्भ परिभाषा या लक्षण से होता है। परिभाषाओं (लक्षण) से परिभाष्यों (लक्ष्यों) को सिद्ध किया जाता है। नैयायिक लोग लक्षण के दो प्रयोजन मानते हैं - व्यवहार और व्यावृन्ति[1]। व्यवहार का अर्थ शब्द प्रयोग है और व्यावृन्ति का अर्थ लक्ष्य के उस असाधारण गुण को व्यक्त करता है, जो लक्ष्य को अन्य विषयों से भिन्न या व्यावृन्त करता है। यद्यपि केशव मिश्र ने तर्क भाषा मे कहा है कि लक्षण का एक प्रयोजन तत्व-ज्ञान भी है, तथापि तत्व-ज्ञान वास्तव मे व्यावृन्ति के अन्दर ही आ जाता है[2]।

श्री हर्ष का मत है कि लक्षण व्यावृन्ति नहीं कर सकता है, क्योंकि व्यावृन्ति लक्ष्य के ज्ञान को पूर्व कल्पित करती है। इस प्रकार लक्षण करने मे चक्रक दोष आदि होते है।[3]

श्री हर्ष के कथन को विशद् करते हुये शकर मिश्र कहते हैं कि यदि लक्षण की व्यावृन्ति लक्ष्याधीन है तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, यदि वह अन्य लक्षण के अधीन है तो चक्रक दोष होता है, और यदि वह अन्य लक्षण भी किसी अन्य लक्षण के अधीन है तो इस प्रकार अनवस्था दोष होता है।[4]

इस प्रकार श्री हर्ष के अनुसार तर्कत लक्षण अकिंचितकर हैं। अब प्रश्न होता है कि लक्षण के इस खण्डन का क्या अभिप्राय है?

---

1. भारतीय तर्कशास्त्र का आधुनिक परिचय, संगमलाल पाण्डेय, दर्शनपीठ इलाहाबाद, 1969, पृ 43
2. वही, पृष्ठ 44
3. लक्षणनिरूपण हारेण चक्रकाप्धवन्ते.। खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ अच्युत. पृ 86
4. यदि लक्षणव्यावृन्तिर्लक्षणाधीन तदा अन्योन्याश्रय । लक्षणान्तराधीनत्वे चक्रकम् । लक्षणे लक्षणान्तरम् तत्रापि लक्षणान्तरम् इति अपरावृन्तौ अनवस्था।
   खण्डनखण्डखाद्य, चौखम्बा, पृष्ठ 130.

1 क्या लक्षण के साक्ष्य अर्थात् लक्ष्य का व्यवहार नहीं होता ? अथवा यदि लक्ष्य का व्यवहार होता है, तो

2 क्या उसका व्यवहार निरहेतुक है, या

3 सहेतुक है, या

4 उसका हेतु लक्षण के अतिरिक्त कुछ दूसरा है, अथवा

5 यद्यपि लक्ष्य का व्यवहार लोक व्यवहार में होता है, तथापि उसमें लक्षण का कोई उपयोग नहीं है, अथवा

6 लक्ष्य ओर लक्षण का व्यवहार अनिर्वचनीय है ।

ये 6 विकल्प अनुभव के विरूद्ध हैं अतएव श्री हर्ष का खण्डन ठीक नहीं है । ऐसी आपन्ति करने पर शकर मिश्र कहते हैं कि लक्षण के खण्डन का प्रयोजन केवल लक्षण करने वाले के उस कथन का खण्डन करना है, जिसके अनुसार लक्षण और लक्ष्य मे एक व्यवस्था होती है[5] ।

स्पष्ट है कि श्री हर्ष का प्रयोजन केवल यह दिखाना है कि जो लोग लक्षण और लक्ष्य की व्यवस्था का अभिधान करते हैं, उनका अभिधान तर्क संगत नहीं है । श्री हर्ष यह नहीं कहते हैं कि लोग लक्षण नहीं देते हैं या लोग लक्षण देना बंद कर देंगे या लक्षण का कोई तार्किक दृष्टि से अकिंचित कर है, अर्थात् उसमें तार्किक दोष होने के कारण उसका कोई तर्किक महत्व नहीं है ।

न्याय भाष्य और वात्स्यायन का कहना है कि न्याय दर्शन का कार्य, उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा है[6] । लक्षण का तर्क संगत कथनन होने पर न्याय दर्शन का सारा भवन ही धराशायी हो जाता है, किन्तु फिर भी श्री हर्ष न्याय दर्शन के प्रमुख संप्रत्ययों का खण्डन करते हैं । इन संप्रत्ययों में प्रमा, प्रमाण और प्रमेय मुख्य हैं । अत. पहले इनके लक्षणों के खण्डन का विचार किया जायेगा ।

---

5 खण्डनखण्डखाद्य, चौखम्बा, पृष्ठ 130

6 न्याय-भाष्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1966, पृष्ठ 15

2. प्रमा का खण्डन ..

(क) तत्वानुभूति, प्रमा है[7] । इस लक्षण के खण्डन में श्री हर्ष कहते हैं कि इस लक्षण के द्वारा यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, क्योंकि अगर कोई व्यक्ति अपनी मुट्ठी बाँधकर दूसरे व्यक्ति से पूछता है कि मेरे हाथ में कितने रूपये है, दूसरा व्यक्ति अकस्मात् उन्तर देता है कि दस रूपये । ऐसी जगह दोनों व्यक्तियों को दस रूपये का ज्ञान होता है, किन्तु इसे प्रमा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मुट्ठी में दस से अधिक या कम रूपये हो सकते है ।

(ख) 'यथार्थ अनुभव प्रमा है[8] । इसका खण्डन करते हुये श्री हर्ष कहते है 'अर्थस्य सादृश्य यथार्थम्' अर्थात् जिसका अर्थ से यानी बाह्य पदार्थ से विरोध न हो वह प्रमा है, किन्तु यह लक्षण उचित नहीं है, क्योंकि 'इद रजनम्' यह भ्रम भी प्रमेयत्येन शुक्ति या रजतत्व के सदृश है । अत उसमे अतिव्याप्ति हो जायेगी ।

(ग) 'सम्यक्-परिच्छेद् प्रमा है'[9] । यह लक्षण भी उचित नहीं, क्योंकि 'याथार्थ्य' रूप सम्यकत्व हो ही नहीं सकता है । फिर सम्यक् का अर्थ क्या है ? सम्पूर्ण अथवा विशेष । यदि इसका अर्थ सम्पूर्ण किया जाता है तो हम पदार्थो के सम्पूर्ण परिच्छेदों को नहीं ज्ञात कर सकते यह केवल सर्वज्ञ का कार्य है ।

इस प्रकार प्रमा के इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हो जाता है । यह लक्षण सशय, भ्रम और स्वप्न मे भी लागू होता है, क्योंकि इन इन अनुभवों में भी कुछ न कुछ तत्वानुभूति होती है[10] । अपरन्च तत्वानुभूति शब्द समस्त पद हैं और इसमें 'तत्व' और 'अनुभूति' अपरिभाषित है । 'तत्व' और अनुभूति के जो भी अर्थ किये जाये, प्रत्येक मे कोई न कोई लक्षण दोष रहता है[11] ।

---

7 न्यायाचार्य शिवादित्य मिश्र ने अपने ग्रंथ "लक्षणमाला" में सबसे पहले प्रमा का लक्षण दिया है । उनके मत से तत्वानुभूति प्रमा है ।

8. यथार्थानुभव प्रमा । खण्डन., चौ विद्या भवन, पृष्ठ 216

9. सम्याक् परिच्छेद प्रमा । खण्डन.ए चौ. विद्या भवन, पृष्ठ 224

10. प्रमाया लक्षस्याद्धौ निरूक्तिस्तत्र खण्ड्यते । अतिव्याप्त्यादिदोषोक्त्या प्रमामात्रानुवर्तिनी ।।
खण्डनगर्त प्रदर्शनी, पृष्ठ 143.

11 इण्डियन थाट, वाल्यूम - 1, नं. 1, पृष्ठ 240.

यदि सम्यक का अर्थ विशेष किया जाता है तो 'इद रजतम्' इस भ्रम मे उस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि यह भ्रम भी रजतत्वरूप विशेष का ही शुक्ति में अवगाहन करता है।

(घ) 'अव्यभिचारी अनुभव, प्रमा है' यह लक्षण भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि अव्यभिचारी पद का अर्थ के साथ ज्ञान का अविनाभूत अव्यभिचारित्व है, तो इस 'अविनाभाव' शब्द का क्या अर्थ है ? क्या चन्द्रोदय कालिक समुद्र बृद्धि के समान जिस समय अर्थ हो, उसी समय का ज्ञान होना या धूम अग्नि के समान जिस देश में अर्थ हो, उसी देश मे ज्ञान का होना अथवा जैसा अर्थ हो वैसा ही ज्ञान हो, यह अर्थ है ? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, वर्योकि अतीत एवं अनागत वस्तु की अनुमिति में अव्याप्ति होगी। द्वितीय पक्ष भी अमान्य है, क्योंकि ज्ञान के समान देश में नहीं रहने वाले घरादि रूप अर्थ की प्रमितियों में अव्याप्ति होगी।

तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान के अर्थ के साथ भेद मानने वालों के मत में ज्ञान तथा अर्थ का सादृश्य न होने से असम्भव हो जायेगा। ज्ञान तथा अर्थ के अभेदभाव मे भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायेगी। व्यवच्छेद न होने से विशेषण भी व्यर्थ हो जायेगा।

(च) 'अविसंवादी अनुभव प्रमा है'[12]। यह लक्षण भी ठीक नहीं है, वर्योकि अविसवादी शब्द का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता है, यदि बाह्य अर्थ का अविसवादी अनुभव प्रमा माना जाये तो यह लक्षण पूर्वोक्त 'यथार्थानुभव प्रमा' की भाँति ही है, जिसका निराकरण किया जा चुका है। यदि अविसंवादी का अर्थ ऐसे अनुभव या ज्ञान से है, जो उत्तरकालीन दूसरे अनुभव या ज्ञान से यथार्थ सिद्ध होता है, तो अप्रमा को भी जब तक बाधित न हो, प्रमा मानना पड़ेगा, क्योंकि बाध होने से पहले अप्रमा भी उत्तरकालीन ज्ञान से यथार्थ ही प्रतीत होती है।
इसमें अतिव्याप्ति दोष भी होगा, क्योंकि जब एक अच्छे नेत्र वाले व्यक्ति के 'शंख शुक्ल' हो है, इस ज्ञान का किसी अन्य पीलिया रोग वाले व्यक्ति के 'शंख पीत' है, इस उत्तरकालीन ज्ञान

---

12 अविसंवाद्यनुभव प्रमा। खण्डन. चौ. वि पृष्ठ 236

द्वारा 'बाध' हो जायेगा। 'बधित' हो जाने से यह ज्ञान अविसवादी न रहेगा और फिर 'शख' शुक्ल है, इस प्रमा को भी प्रमा नहीं कहा जा सकता है। अब इसके उन्तर में यदि कहा जाय कि नेत्र रोगी का 'शंख पीत' है, यह ज्ञान दुष्ट है, इसलिये 'शंख शुक्ल है' इस ज्ञान का बाध नहीं कर सकता है, क्योंकि बाध सम्यक् ज्ञान द्वारा ही हो सकता है, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान ही तो प्रमा है, जिसका लक्षण निरूपित करना है और जब तक प्रमा का लक्षण न करलें, तब तक 'सम्यक ज्ञान' को कैसे जान सकते हैं। साथ ही बिना सम्यक् ज्ञान को जाने हुये ज्ञान को भी नहीं जाना जा सकता है।

(छ) 'अवाधित अनुभूति प्रमा है'[13]। श्री हर्ष इस लक्षण का भी निरूपण करते हैं और सिद्ध करते हैं कि यह लक्षण भी ठीक नहीं है, कारण शुक्ति-रजत का अनुभव भी, जब तक उसका बाध न हो, प्रमा कहलायेगा। यदि सभी कालों मे अबाधितत्व कहें, तो वह प्रमा में भी नहीं है, क्योंकि सम्भव है कि स्वप्न मे प्रमा का भी बाध हो जाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रमा का कोई ठीक लक्षण नहीं किया जा सकता है और जब प्रमा का ही लक्षण नहीं किया जा सकता है, तो प्रमाण का लक्षण कैसे किया जा सकता है।

(ज) शक्ति-विशेष प्रमा है। नैयायिक मानते है कि प्रमा में अर्थ-बोध की जो शक्ति है, वह शक्ति ही प्रमात्व है और प्रमात्व योग ही प्रमा का लक्षण है। इसके खण्डन में श्री हर्ष कहते हैं कि यह लक्षण भी खण्डित है, क्योंकि शक्ति यदि अज्ञात रूप से व्यवहार जनक हो तो भ्रम एव सशय नहीं होना चाहिये। यदि ज्ञात होकर व्यवहार जनक हो तो जिस चिन्ह से ज्ञात होगी, वही प्रमा का लक्षण होगा और अनुगत रूप से ज्ञान के बिना कारणत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है और अनुगत रूप के ज्ञान होने पर वही लक्षण होगा, शक्ति नहीं। अत अनिश्चितता के कारण यह लक्षण भी खण्डित है।

---

13 अबाधितानुभूति- प्रमा। खण्डन., चौ. वि. पृष्ठ 244.

3. प्रमाण का खण्डन

प्रमाण का लक्षण है - प्रमाकरणं प्रमाणम् । स्पष्ट है कि यदि प्रमा का लक्षण तर्क संगत नहीं है, तो प्रमाण का लक्षण भी तर्क सगत नही हो सकता है, क्योंकि प्रमाण के लक्षण को प्रमा का निवेश है । इस सामान्य खण्डन के अतिरिक्त भी श्री हर्ष प्रमाण लक्षण के अन्तर्गत 'करण' शब्द को लेकर इस लक्षण की आलोचना करते हैं ।

करण का खण्डन -

श्री हर्ष नैयायिको द्वारा प्रस्तुत करण के चार लक्षणों का खण्डन करते हैं । वे लक्षण हैं -

1 - कारकान्तर में अचरितार्थ, सार्वत्रिक हेतु करण है ।

2 - कर्ता के व्यापार का विषय करण हैं ।

3 - क्रिया के साथ 'अयोगव्यवच्छेद' सम्बन्ध वाला करण है ।

4 - चरम व्यापार जिसमे हो, वह करण है ।

(1) **कारकान्तर में अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु करण है**[14] । अर्थात् कारकान्तर का अर्थ कर्ता, कर्म, सम्प्रदान और अधिकरण इन कारकों से है, जो हेतु कारकान्तर में चरितार्थ न हो और क्रिया का जनक हो, वह करण है । कर्ता, कर्म, तथा अधिकरण 'करण' के व्यापार मे सहायक है । अत कर्ता, कर्म तथा अभिकरण से करण भिन्न है । सम्प्रदान दान क्रिया का हेतु है और अपादान विभाग विशेष का हेतु है । अत ये दोनों (सम्प्रदान और अपादान) सार्वत्रिक नहीं हैं, जबकि करण क्रियामात्र का जनक होने से सर्वत्र है, अत कारकान्तर मे अचरितार्थ और सार्वत्रिक हेतु करण है ।

श्री हर्ष इस कथन (लक्षण) को अविचारित - रमणीय कहते हैं[15], क्योंकि विचार करके देखा जाय तो इस लक्षण में कुछ भी यथार्थता नहीं है । लक्षण में प्रविष्ट 'अन्तर'

---

14. कारकान्तरेऽचरितार्थस्य हेतुत्वं करणत्वम् । खण्डन. अच्युत., पृष्ठ 169.

15. अस्तु तावदविचारितरमणीयमिदं व्याख्यानम् । खण्डन. अच्युत., पृष्ठ 170

शब्द यदि विशेष मात्र का वाचक है, तो उसका उपादान ही व्यर्थ है। कारक विशेष को त्याग कर सामान्य कारक का कोई जनक ही नहीं है। इसलिये 'अन्तर' शब्द व्यर्थ ही है।

यदि अन्तर शब्द का अर्थ 'अन्य' किया जाय तो यह भी ठीक नहीं है। जैसे 'अन्य आत्मा शरीरमन्यत्' यहाँ पर 'शरीर से अन्य आत्मा और आत्मा से अन्य शरीर' यह अर्थ समभिव्याहार से प्राप्त है। इसी तरह 'कारकान्तर' शब्द का अर्थ भी 'करण से अन्य कारक' हुआ। किन्तु यह असंगत है, क्योंकि अभी तो करण का निरूपण ही नहीं हुआ है। करण का अर्थ अज्ञात है। इसी प्रकार करण के लक्षण के प्रविष्ट करने से आत्माश्रय दोष होगा। करण मे लक्षण के नहीं घटने से अव्याप्ति और कर्ता एवं कर्म मे लक्षण के घटने से अतिव्याप्ति होगी।

नैयायिक यदि कहे कि 'अन्तर' शब्द कर्ता तथा कर्म से अन्य परक है, इसलिये कर्ता तथा कर्म में लक्षण नहीं घटेगा, इसलिये अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। श्री हर्ष इसके खण्डन मे कहते है, ऐसा लक्षण करना भी असंगत है, क्योंकि 'कारक मे अचरितार्थ' इतने अश से ही उक्त अतिव्याप्ति का वारण हो जायेगा, जिससे 'अन्तर' शब्द का निवेश व्यर्थ हो जायेगा।

यदि कहें कि 'अन्तर' शब्द का कुछ अधिक अर्थ नहीं है, अर्थात् 'कारक' मे अचरितार्थ सार्वत्रिक हेतु करण है, ऐसा लक्षण करेंगे, जिससे व्यर्थत्वापत्ति नहीं होगी, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि व्यापारयुक्त कारण कारक होता है। जहाँ बटलोई में पाक होता है, वहाँ बटलोई के साथ अग्नि का संयोगादि व्यापार रहता है। अतः अग्नि कारण है। इसमें जो व्यापार होता है, उसका जनक हस्तादि है। अतएव हस्तादि करण होता है। परन्तु अब करण का लक्षण इसमें नहीं घटेगा, क्योंकि यह कारक में अचरितार्थ नहीं है, अर्थात् चरितार्थ है। अतः इसका लक्षण करना अशक्य है।

(2) **कर्ता के व्यापार का विषय करण है**[16]। श्री हर्ष इस करण लक्षण का खण्डन करते हुये कहते हैं कि यह लक्षण भी उचित नहीं है, क्योंकि इस लक्षण के अनुसार

---

16 कर्तृव्यापारविषय करणम्। खण्डन., चौ. वि., पृष्ठ 253.

हस्त, अग्नि या वाणादि में मानस एव शारीरिक व्यापार विषयता से अव्याप्ति तो नहीं है तथा उद्यमन निपातनादि कर्तु-व्यापार(फल भी कर्ता के व्यापार) की विषयता से कुठारादि मे भी लक्षण का समन्वय होता है। तथापि फल भी कर्ता के व्यापार का विषय होता है, अत उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

यदि कहें कि कर्ता के व्यापार का साक्षात् विषय करण है, शरीर मनोव्यापार द्वारा कर्तुव्यापार का विषय है, अत अतिव्याप्ति नहीं है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि ऐसा लक्षण करने पर तो सकल्प विशिष्ट मन या सकल्प भी करण हो जायेगा, कारण वह कर्तुव्यापार का साक्षात् विषय है। कुठारादि भी शरीर व्यापार द्वारा ही कर्तुव्यापार का विषय होता है। अत साक्षात् निवेश करने पर कुठारादि में अव्याप्ति हो जायेगी।

यदि कहे, जो तत्क्रिया का हेतु होकर तत्क्रिया के कर्तुव्यापार का विषय हो, वह तत्क्रिया मे करण है तो यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनीश्वरवाद मे अकुर का करण कर्तुव्यापार का विषय नहीं है। अत अकुर के करण मे लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। यदि ईश्वरवाद माने तो ईश्वर रूप कर्ता व्यापार के विषय तो सभी कारक होते हैं। अत सम्पूर्ण कारक करण हो जायेंगे।

इस लक्षण मे 'व्यापार' शब्द पर विशेष बल दिया गया है। अत इस द्वितीय करण लक्षण के साथ ही श्री हर्ष व्यापार लक्षण का भी खण्डन करते हैं -

व्यापार - लक्षण का खण्डन :

करण का व्यापार क्या चीज है, अर्थात् व्यापार का लक्षण क्या है ? श्री हर्ष इसके मुख्य 2 विकल्प बताते हैं। प्रथम - क्या करण से जन्य कारण व्यापार है ? या द्वितीय करण का आश्रित कारण व्यापार ?

इनके खण्डन में श्री हर्ष कहते हैं - प्रथम विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि लिग परामर्श में वह असम्भव है।[17] दूसरा करण का आश्रित कारण व्यापार है, भी उचित नहीं है, क्योंकि उसके अनुसार लिंग परामर्श अनुमिति का करण नहीं हो सकता है।[18]

---

17 लिंगपरामर्शे तद्सम्भवात्। खण्डन, चौखम्बा, पृष्ठ 256

18. लिंगपरामर्शस्य अनुमितौ अकर्णत्व प्रसंगात्। खण्डन, चौखम्बा, पृष्ठ 260

(3) क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेद सम्बन्ध वाला करण है[19] । यदि कहे क्रिया के साथ अयोग (असम्बन्ध) व्यवच्छेद (अभावपूर्वक) सम्बन्ध वाला करण होता है तो यह भी लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगिरूप होता है । अत अयोग का व्यवच्छेद योगरूप होने से उक्त लक्षण वाक्य का अर्थ हुआ संबंधयुक्त सम्बन्धी । अत पुनरूक्ति दोष होने से यह लक्षण असंगत है ।

यदि कहा जाय, जिस कुठारादि मे छिदादि प्रधान-क्रिया का सबध प्रधान क्रिया के सबधाभाव से समानाधिकरण न हो, वह करण है, तो यह लक्षण उचित नही, क्योंकि कर्ता मे भी छिदा के सबधकाल मे छिदा का असंबध नहीं है । अत इस लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष है ।

यदि कहा जाय कि क्रिया के साथ अयोग व्यवच्छेद (क्रिया संबध) से युक्त कार्य करण भावरूप संबध जिसमे हो, वह करण है, तो उचित नहीं, क्योंकि छिदादि प्रधान क्रिया के साथ अयोग व्यवच्छेद से युक्त सबधी सामग्री भी है, अत सामग्री मे करणत्व का प्रसग हो जायेगा, जिसमें अतिव्याप्ति हो जायेगी ।

यदि माना जाय, वह वस्तु जो जब तक करण के स्वरूप मे विद्यमान जो तब तक अयोगव्यवच्छिन्न रूप से क्रिया संबधी हो, करण है, जो यह लक्षण भी युक्त नहीं, क्योंकि कुठारादि करण में यह लक्षण नहीं घटेगा । उसके उद्यमनादि व्यापार युक्त होने पर भी प्रथमादि क्षण में ही उससे छेदनादि क्रिया नहीं होती । इससे उसमें क्रियाजन कत्व उस समय सिद्ध नहीं होता । अत फलस्वरूप छेदनादि से पूर्व क्रिया काल मे क्षणमात्र भी उस उद्यमनादि से युक्त करण की अनुवृत्ति (सत्ता) के निषेध में प्रमाण के दुरूपन्यास से करण के सत्व का निश्चय न होने पर भी सत्व का सशय तो होता ही है और क्रिया का सदा संबंध नहीं रहता है । इससे इस लक्षण की असिद्धि होती है । जब सत्व क्रियाजनकत्व से विपरीतता करण में है । जहाँ चिरकाल तक स्थिर हस्तसंयोग वाला स्पर्शयोग्य पदार्थ हो, वहाँ स्पर्श प्रमा के करण त्वागिन्द्रिय के सयोग की स्थिरता के मन्तव्य होने से अव्याप्ति है ।

---

19 क्रियया अयोगव्यवच्छेदेन सम्बन्धि करणम् ।

खण्डन., चौखम्बा, वि., पृष्ठ 260.

यदि कहें, अयोगव्यवच्छेद से युक्त जो क्रिया का सबंधी हो, इसका फलित अर्थ यह हुआ जिसके रहने पर अवश्य क्रिया होती हो, वह करण है, तो उचित नही, क्योंकि इस फलितार्थ बोधक वाक्य का क्या अर्थ है ? क्या जिसके अनन्तर क्रिया अवश्य उत्पन्न हो, या जिसके रहने पर अवश्य उत्पन्न हो, या जिसके अननन्तर क्रिया रहती ही है, या जिसके वर्तमान रहने पर क्रिया रहती है ।

प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि क्रिया की सामग्री के अनन्तर अवश्य क्रिया की उत्पत्ति होती है । अत उसमे करणत्व की प्राप्ति होती है । हस्त-व्यापार के अनन्तर कदाचित् पाकादि क्रिया नहीं भी होती । अत. हस्तादि मे लक्षण की अव्याप्ति हो जायेगी । सुखादि भी क्षणभर भी अज्ञात नहीं रहते, किन्तु उत्पत्ति के अनन्तर इनकी प्रमिति अवश्य होती है । अत सुखादि भी स्व प्रमिति के करण जो जायेंगे। प्रमेय भी प्रमा का करण होता है । यह तो कभी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कर्म मे करण व्यवहार देखा नही जाता है । द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि स्पर्शयोग्य के साथ स्थिर संबध वाले त्वगिन्द्रिय के रहने पर भी मन के अन्यत्र आसक्त रहने पर त्वक् से प्रमा नहीं उत्पन्न होती है ।

तृतीय पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि जो कार्यों को स्थिर मानते है । अर्थात् क्षणिक नहीं मानते, उनके मत में भी घटादि से स्वसन्तारूप क्रिया अनन्तर होती है । अत घटादि स्वसन्तरूप क्रिया मे करण हो जायेंगे।

चतुर्थ पक्ष भी उचित नहीं, क्योंकि एक साथ रहने वाले रूपादि के रहने पर ही रसादि रहते हैं। अत. सहस्थायी रूपादि भी रसादि के करण हो जायेगे।

यदि कहा जाय, क्रिया के साथ अयोगव्यवच्छेदयुक्त संबंधी करण है । अर्थात् जिस व्यापार के होने पर फल का अव्यभिचार हो वह करण है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि हस्त का व्यापार होने पर भी कदाचित् फल का व्यभिचार होने से हसत मे अव्याप्ति हो जायेगी ।

(4) **चरम व्यापार जिसमें हो वह करण है।** करण का यह लक्षण भी तर्क सगत नहीं है, क्योंकि लिग परामर्श इसके आधार पर अनुमिति का करण नहीं हो सकेगा, क्योंकि यह चरम व्यापार नहीं है[20]।

इस प्रकार करण की निरूक्ति या व्याख्या नहीं की जा सकती है, फिर उसके अनिरूक्त होने पर प्रमाण भी अनिरूक्त हो जाता है। यह प्रमाण का सामान्य खण्डन है। इसके अनन्तर श्री हर्ष ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इन विशेष प्रमाणों के विशेष लक्षणों का खण्डन किया है।

साधु प्रवर मोहन लाल खण्डनगर्तप्रदर्शनी मे कहते है कि -

खण्डनं प्रतिजानीते श्रीहर्षोऽथ विशेषत ।
मानानां मानभंगार्थं वादिना मानमानिनाम्।।[21]

अर्थात् श्री हर्ष ने विशेष रूप से विशेष विशेष प्रमाणों का खण्डन करके उन उन प्रमाणों के मानने वालों के सम्मान का खण्डन किया है, किन्तु इन विशेष प्रमाणों का खण्डन हमारे प्रस्तुत प्रयोजन में अनुपयोगी है। प्रमाण का ही खण्डन हो जाने पर विशेष प्रमाण के खण्डनों का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यहाँ पर उल्लेखनीय है कि श्री हर्ष ने खण्डन को दर्शन का मुख्य प्रयोजन माना है। उनके मत से खण्डन दर्शन है अथवा दर्शन खण्डन है। फिर खण्डन के दो रूपों का उन्होंने उल्लेख किया है। एक सामान्य, दूसरा विशेष। जैसे प्रमाण का खण्डन सामान्य खण्डन है और प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन विशेष खण्डन है। यद्यपि विशेष प्रमाणों, विशेष पदार्थों और विशेष लक्षणों का खण्डन श्री हर्ष ने बडी सतर्कता के किया है तथापि इन खण्डनों का मूल लक्षण सामान्य और प्रमाण के खण्डन है। सामान्य खण्डन हो जाने पर विशेष खण्डन स्वत हो जाता है।

---

20 व्यापाराभावात् लिंगपरामर्शस्याकरणत्वापातात्। खण्डन., अच्युत., पृष्ठ 193.

21. (1) खण्डन गर्त प्रदर्शनी, पृष्ठ 293

नैयायिक मानते है कि लक्षणप्रमाणाभ्या वस्तुसिद्धि , अर्थात् लक्षण और प्रमाण से वस्तु-सिद्धि होती है । किन्तु जब लक्षण और प्रमाण स्वय असिद्ध या दोषग्रस्त है तो वस्तु-सिद्धि या प्रमेय-सिद्धि अथवा किसी भी पदार्थ की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

--0--

अध्याय पंचम

विशेष खण्डन -विधि

"अयमात्मा ब्रह्म"

- अर्थवेद -

वृह. उप. 2/5/19

विशेष खण्डन - विधि

प्रमाणों तथा प्रमेयों का खण्डन

श्री हर्ष ने समस्त प्रमाणों का विधिवत् खण्डन किया है । ये प्रमाण है - प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, शब्द (आप्तवचन) अर्थापत्ति और अनुपलब्धि । यहाँ प्रत्येक के खण्डन को उनकी विधि को समझने के लिए दिया जा रहा है ।

1. प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन

श्री हर्ष ने प्रत्यक्ष खण्डन मे प्रत्यक्ष के निम्न 22 लक्षणों को लिया है -

(1) इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न तथा अर्थ को अव्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है ।[1]

(2) भासमान आकार से इन्द्रिय का जो सम्प्रयोग है, उससे उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है ।[2]

(3) साक्षात्कारित्व प्रत्यक्ष है ।[3]

(4) जिस ज्ञान का कारण इन्द्रिय हो, वह प्रत्यक्ष है ।[4]

(5) विशिष्ट ज्ञातता को उत्पन्न करने वाला साक्षात्कारित्व प्रत्यक्ष है ।[5]

(6) मेयजनित साक्षात्कारित्व प्रत्यक्ष है ।[6]

(7) जिस ज्ञान के द्वारा प्रमित पदर्थ मे पुन प्रमित्सा नही रहती वह साक्षात्कारि ज्ञान प्रत्यक्ष है ।[7]

---

1 प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यभिचारीत्याहु ।
खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ 198, अच्युत ग्रंथ माला, काशी ।

2 भासमानाकारेन्द्रियसयोगज प्रत्यक्षम् । खण्डन , पृ 204, अच्युत ।

3 साक्षात्कारित्व प्रत्यक्षत्वम् । खण्डन., पृ 314, चौखम्बा, विद्या भवन, वाराणसी ।

4 इन्द्रियकरणकानुभूतित्वं प्रत्यक्षत्वम् । खण्डन., पृ. 222, अच्युत काशी ।

5 ज्ञातता विशेषजनकत्व साक्षात्कारित्वम् । खण्डन., पृ. 329, चौखम्बा, विद्या भवन ।

6 मेयजनितवं प्रत्यक्षत्वम् । खण्डन., पृष्ठ 330, चौ , विद्याभवन ।

7 येन प्रमिते सति न प्रमित्सा भवति, तत्साक्षात्कारि । खण्डन., पृ 330, चौ., वि ।

(8) जिस अनुभव का कारण अज्ञायमान है वह प्रत्यक्ष है ।[8]

(9) सकारण तथा भावरूप साक्षात्कारित्व प्रत्यक्ष है ।[9]

(10) अव्यवहितार्थ प्रमाण प्रत्यक्ष है ।[10]

(11) जो ज्ञान किसी अन्य ज्ञान से उत्पन्न न हो वह प्रत्यक्ष है ।[11]

(12) स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है ।[12]

(13) स्वकालवच्छिन्नार्थबोधक साक्षात्त्व प्रत्यक्ष है ।[13]

(14) जो ज्ञान षट् प्रकार के सन्निकर्ष से भिन्न द्वारा अप्रयुक्त हो तथा विषय से नियत्रित हो, वह प्रत्यक्ष है ।[14]

(15) स्वरूप का ज्ञान अर्थात् जो धर्म जिसमे हो, उस धर्म से विशिष्ट धर्मी का ज्ञान प्रत्यक्ष है ।[15]

(16) अनुपहित वस्तु का जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है ।[16]

(17) जिस ज्ञान में व्याप्यादि उपहित न हों, वह प्रत्यक्ष है ।[17]

(18) अव्यवहित पदार्थो का ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।[18]

(19) ज्ञान का जो जाति विशेष साक्षात्व है, वह प्रत्यक्ष है ।[19]

---

8 अज्ञायमानासाधारणकारणकानुभवत्वम् । खण्डन., पृ 332, चौ.वि ।

9 कारणविशेषणीकृतभावत्वं साक्षात्कारित्वम् । वही, पृष्ठ 332

10. अव्यवहितार्थप्रमात्व साक्षात्वम् । वही, पृष्ठ 336

11. ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वम् । वही, पृष्ठ 336

12 स्वविषयांनन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यधीत्व प्रत्यक्षत्वम् । खण्डन , पृष्ठ 337, वही

13 स्वकालवच्छिन्नार्थबोधकत्वं साक्षात्वम् । वही, पृष्ठ 339

14 षोढासन्निकषेतराप्रयुक्तविषयनियम ज्ञानं प्रत्यक्षम् । खण्डन , पृष्ठ 230, अच्युत

15 साक्षाद्धी स्वरूपधी । खण्डन , पृष्ठ 231, अच्युत. काशी ।

16 अनुपहितप्रतीति साक्षाद्धी । खण्डन , पृष्ठ 342, चौ वि. ।

17 व्याप्युहितत्वाद्यभावसमुच्चयवत्त्वं साक्षात्त्वम् । वही, पृष्ठ 343

18 अव्यवहितधीत्व साक्षात्त्वम् । वही, पृष्ठ 344, चौ विद्या भवन ।

19 ज्ञानस्य जातिभेद. साक्षात्त्वम् । चौखम्बा, पृष्ठ 318.

(20) लिंगजन्यत्व का अभाव, शब्दजन्यत्व का अभाव तथा सादृश्य जन्यत्व का अभाव जिस बुद्धि मे रहता है, उसे साक्षात् ज्ञान या प्रत्यक्ष कहा जाता है।[20]

(21) अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध, परोक्ष, सन्देह, भ्रम, स्मृति आदि जो व्यवच्छेद्य है, उनके असाधारण कारणों से अजन्य बुद्धि प्रत्यक्ष है।[21]

(22) शब्द सादृश्य और लिग परामर्श के द्वारा जनित प्रमा ज्ञानों से जो प्रमा भिन्न है, वह प्रत्यक्ष प्रमा है।[22]

उपर्युक्त लक्षणों में 20, 21 और 22 प्राय एकार्थक है और परिशेष-न्याय से प्रत्यक्ष को परिभाषित करते है। किन्तु जब अनुमान, शब्द, उपमान आदि स्वय अपरिभाषित है तो फिर इन परिभाषाओं का महत्व घट जाता है। अतएव ये सभी सदोष हैं।

पुनश्च लक्षण 3, 4, 5, 6, 7, 9, 10, 11, 13, 17, 18 और 19 मे प्रमुखता साक्षात्त्व की है और उसी को विभिन्न प्रकार से परिभाषित करने के कारण इन लक्षणों में थोडा-बहुत अन्तर आ गया है। वैसे साक्षात्त्व के खण्डन द्वारा इन सभी का निराकरण हो जाता है। साक्षात्त्व भी यथार्थत प्रत्यक्ष का पर्याय है। अत वह कोई व्यावर्त्तक लक्षण नहीं है।

1 प्रथम लक्षण का खण्डन

नैयायिक गौतम कृत प्रत्यक्ष लक्षण है - "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यभिचारीत्याहु" अर्थात् इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बद्ध) से उत्पन्न तथा अर्थ से अव्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा है। यहॉ प्रश्न है कि यह लक्षण किसलिये किया गया है? क्या

---

20 लिंगादिजत्वाभावसमुदायवज्ज्ञानत्वं साक्षात्त्वम्। ख, अच्युत, पृष्ठ 238

21 अनुमानादिव्यव्यवच्छेद्यतप्तदसाधारणकारणाजनिता धी साक्षात्। ख, अच्युत, पृ 238

22 शब्दादिजप्रमितिव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमितित्वं प्रत्यक्षत्वम्। खण्डन, चौ वि पृ 353

लक्ष्य को सजातीय और विजातीय से व्यावृत करके जानने के लिये है ? या प्रत्यक्ष साक्षात्कारी आदि शब्दों के प्रवृत्ति निमिन्त के प्रदर्शन के लिए है ? अथवा अन्य किसी प्रयोजन के लिये है ?

(अ) प्रथम (सजातीयविजातीयव्यवच्छेदक) विकल्प समीचीन नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्षत्वेन सजातीय पदार्थो का ग्रहण किया गया है ? या अन्य धर्म से ? प्रत्यक्षत्वेन एक प्रत्यक्ष वस्तु की सजातीय दूसरा प्रत्यक्ष वस्तु ही है । उक्त लक्षण सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं मे समान रूप से व्याप्त माना जाता है । अत अस्मात् प्रत्यक्षाद् व्यावृन्तमिद लक्षणम - ऐसासावधिव्यावृन्ति-निर्देश नहीं किया जा सकता । यदि किसी प्रत्यक्ष वस्तु से यह लक्षण व्यावृत है, अर्थात् उसमें नहीं घटता, तब यह लक्षण अव्याप्त कहा जायेगा । द्वितीय अन्य धर्म (प्रमेयत्वादि) से साजात्य विवक्षित होने पर लक्षण-घटक "विजातीय" पद का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि केवल अनुमानदि सभी इतर प्रमाण ही प्रमेयत्वेन प्रत्यक्ष के सजातीय नहीं, अपितु सभी जगत् सजातीय हो जाता है, विजातीय कोई रहता ही नहीं । जिससे इस लक्षण की व्यावृन्ति की जाती, यदि प्रमाणत्व रूप से साजात्य अभिप्रेत है, तब प्रत्यक्ष प्रमाण को उक्त लक्षण के द्वारा प्रमाणत्वाक्रान्त सभी प्रमाणों से व्यावृन्त करना होगा, उन्हीं में लक्ष्य रूप प्रत्यक्ष प्रमाण भी समाविष्ट हो जाता है, अत. वह भी व्यवच्छेद कोटि मे ही आ जाता है । तब सग्राह्य कौन रहेगा ?

शंका - यदि कहा जाय कि "लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभि सजातीयम् तद् व्यवच्छिद्यते" । इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप लक्ष्य के सजातीय अनुमानादि प्रमाणों की लक्षण के द्वारा व्यावृन्ति होगी, प्रत्यक्ष की नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष का सजातीय नहीं । केवल "सजातीय" नहीं कहा जाता, अपितु "लक्षस्य सजातीयम्", यहाँ "लक्ष्य" पद के उन्तर षष्ठी विभक्ति भेद-सापेक्ष सम्बन्ध की बोधिका होती है । अत लक्ष्य (प्रत्यक्ष) से भिन्न अनुमानादि ही व्यवच्छेद्य होते हैं, प्रत्यक्ष व्यवच्छेद्य नहीं, अपितु संग्राह्य है ।

समाधान - "लक्ष्यभिन्नात् सजातीयात लक्ष्यस्य व्यवच्छेद क्रियते" - इसकी अपेक्षा "लक्ष्यभिन्नात् व्यवच्छेद क्रियते" - इतना ही कह देना पर्याप्त है - "सजातीयात्" ऐसा कहना प्रकृतानुपयोगी और व्यर्थ है । दूसरी बात यह भी है कि लक्षण की प्रवृन्ति से पहले ही "सजातीयं लक्ष्यादन्यत्" - ऐसा ज्ञान प्राप्त करना होगा, जब कोई व्यक्ति सजातीय

पदार्थ को लक्ष्य से भिन्न जान गया, तब उसे यह भी ज्ञात हो गया कि लक्ष्य पदार्थ सजातीय से भिन्न है, क्योंकि जो पदार्थ जिस वस्तु से भिन्न होता है, वह वस्तु भी उस पदार्थ से भिन्न होता है । इस प्रकार लक्षण की प्रवृत्ति से पहले ही जब सजातीय से लक्ष्य का भेद अवगत हो गया, तब वह लक्षण का फल या प्रयोजन क्योंकर कहलाएगा ? जिस लक्षण के प्रयोग से पहले ही उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह लक्षण नितान्त व्यर्थ है ।

शंका - जहाँ कार्य एक जातीय न होकर नाना जातीय होता है, वहाँ अवश्य ही कार्य के द्वारा अननुगत कारण ही सिद्ध होता है और अननुगत कारण को लक्षण नहीं कहा जा सकता, किन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष प्रमारूप कार्य एक साक्षात्व जाति से समन्वित है, अत इसके द्वारा अनुगत इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि की सिद्धि हो सकती है ।

समाधान - सभी प्रत्यक्ष प्रमा व्यक्तियों साक्षात्वरूप एक जाति से समन्वित है, ऐसा ज्ञान यदि लक्षण-प्रयोग से पहले ही सिद्ध हो जाता है, तब उसी "साक्षात्व" जाति के द्वारा प्रत्यक्ष में सजातीय और विजातीय पदार्थों से भेद भी सिद्ध हो जाएगा, "साक्षात्व जाति के माध्यम से लक्षणरूप कारण का अनुमान और अनुमानित लक्षण के द्वारा सजातीय ओर विजातीय का लक्ष्य मे भेद सिद्ध करना" इस प्रकार का कुकर्म करने की क्या आवश्यकता ?

शंका - लक्ष्यगत इतर भेद की सिद्धि यदि साक्षात्वादि धर्मों के द्वारा हो जाती है, तो इतने मात्र से लक्षण व्यर्थ क्यों होगा ? एक साध्य के अनेक साधन होते हैं, उनमेंएक साधन के द्वारा दूसरे साधन व्यर्थ नहीं माने जाते । व्यर्थता दोष तो हेतु का दोष है, व्यर्थ हेतु व्याप्यत्वासिद्धि माना जाता है । लक्षण के दोष तो अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भवादि होते हैं, इनमे से जब तक कोई दोष उद्भावित नहीं होता, तब तक लक्षण दुष्ट नहीं कहा जा सकता ।

समाधान - हमारा उद्देश्य तो लक्षण - कर्त्ता नैयायिक को परास्त करना है, उसकी पराजय उसके लक्षण के अन्तरङग कलेवर को दूषित करने से भी हो सकती है और लक्षण के बहिरङग को भङग कर देने से भी हो जाती है । हमने जब एक रेखा के सामने छोटी रेखा खींच दी, तब पहली रेखा अपने आप लम्बी हो जाती है । नैयायिक के लक्षण-प्रणयन का प्रयोजन जो लक्ष्य की इतर-व्यावृत्ति-साधन बताया जाता है, उसको हमने साक्षात्कारित्व रूप

जति के द्वारा सिद्ध कर दिखाया, साक्षात्कारित्व का मानना परमावश्यक है । अत जब इसी से इतर-भेद सिद्ध हो जाता है, तब इसके द्वारा लक्षण की और उस लक्षण के द्वारा इतर-भेद का साधन वैसा ही गौरवापादक है, जैसे कि एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाकर दूसरे से अन्धकार को दूर करना । जैसे एक दीपक से प्रज्वलित दूसरा दीपक स्वय अर्थ नहीं, अर्थ क्रियाकारी होने पर भी अपने प्रज्वलयिता पुरूष की अनभिज्ञता अवश्य प्रकट करता है, वैसे ही कार्यगत साक्षात्कारित्वरूप जाति के द्वारा लक्षण और लक्षण के द्वारा इतर भेद सिद्ध करने से लक्षण मे भले ही दोष न आये, लक्षण-प्रणेता नैयायिक की गौरव ग्रस्त कार्य प्रणाली तो प्रकट हो ही जाती है, वह उतने मात्र से लज्जित और पराजित हो जाता है, हमारा उद्देश्य सिद्ध हो गया ।

(ब) द्वितीय विकल्प - "साक्षात्कारित्व प्रतीतये तच्चिन्होपदर्शनम्" भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि यदि साक्षात्कारित्व विषयक अवगम के बिना लक्षण का अवगम न होता, तब जैसे धूम की अन्यथानुत्पत्ति के आधार पर अग्नि की सिद्धि होती है, वैसे ही लक्षण के द्वारा साक्षात्कारित्व सिद्ध हो सकता था । साक्षात्कारित्व विषयक ज्ञान के द्वारा यदि लक्षण का ज्ञान माना जाय, तब अन्योन्याश्रय दोष होता है कि साक्षात्कारित्व की सिद्धि होती है । इस अन्योन्याश्रयता को दूर करने के लिए यदि लक्षण की अवगति साक्षात्कारित्व ज्ञान पर निर्भर न होकर अपरोक्ष व्यवहार हेतु ज्ञानत्व के द्वारा मानी जाय, तब साक्षात्कारित्व का अविनाभूत होने के करण अपरोक्ष व्यवहार हेतु प्रत्ययत्वादि को ही प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण मान लेना चाहिए ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादि को लक्षण क्यों माना जाता है ?

शङका - लिङग तो लक्ष्य का व्याप्य भी होता है, किन्तु लक्षण सदैव लक्ष्य व्यक्तियों में व्यापक होता है, किन्तु अपरोक्ष व्यवहार हेतु प्रत्ययत्व वैसा नहीं, क्योंकि मार्ग में जाते हुए आनुषंगिक तृणादि के प्रत्यक्ष मे अपरोक्ष व्यवहार नहीं होता, अत. अपरोक्ष व्यवहार हेतु प्रत्ययत्व को प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं माना जा सकता, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादि को ही लक्षण मानना होगा ।

समाधान - लिङग यदि लक्ष्य का अव्यापक होता है, तब जिस प्रत्यक्ष व्यक्ति में वह नहीं, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व के होने में भी कोई प्रमाण नही उसका वहाँ ज्ञान ही

नहीं हो सकता । अत उक्त लक्षण साक्षात्कारित्वावगति का चिन्ह क्योंकर हो सकेगा ? यदि व्यापकत्वेनानवगत इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व साक्षात्कारित्व की प्रतीति मे लिङग हो सकता है, तब अपरोक्षव्यवहार हेतु प्रत्ययत्वरूप लिङग ने क्या बिगाडा है कि वह लक्षणविधया लक्ष्य का गमक नहीं हो सकता ।

शङका - जहाँ पर इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व का ज्ञान अपरोक्ष व्यवहार हेतु प्रत्ययत्वरूप लिङग से नहीं हो सकता, वहाँ लिङगान्तर से उसका ज्ञान हो सकता है । अत इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व समस्त प्रत्यक्ष व्यक्तियों मे व्यापक होने के कारण प्रत्यक्ष का लक्षण हो सकता है ।

समाधान - लिस लिङगान्तर से इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व का अनुमान किया जाता है उसी को साक्षात्कारित्व का भी चिन्ह (लिङग) माना जा सकता है, "उसके द्वारा इन्द्रियजन्यत्व और इन्द्रियजन्यत्व के द्वारा साक्षात्कारित्व का अनुमान किया जाय", ऐसी परम्परा की कल्पना निरर्थक है ।

शङका - इन्द्रियजन्यत्व के कथित दोनों लिङग न तो पृथक-पृथक और न मिलकर साक्षात्कारित्व के व्यापक हो सकते हैं, किन्तु इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व व्यापक हैं, अत. इसी को लक्षण मानना उचित है ।

समाधान - लक्षण का मुख्य प्रयोजन यहाँ साक्षात्कारित्व का अनुमान करना है, वह कथित दोनों लिङगों से जब सम्पन्न हो जाता है, तब किसी व्यापक लक्षण की कल्पना निरर्थक है ।

(स) तृतीय (व्यवहारार्थम्) विकल्प की संगत नहीं, क्योंकि जिस व्यवहार का सम्पादन करना है, उसका स्वरूप तो यही है ।

(द) चतुर्थ विकल्प (प्रत्यक्षादिशब्द प्रवृत्तिनिमित्तावधारणार्थम्) की उचित नहीं, क्योंकि लक्षण का ज्ञान ही जब सुकर नहीं, तब उसे प्रत्याक्षादि शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त क्योंकर माना जा सकता है ।

(य) पंचम् विकल्प (अन्यत्किन्चिदर्थम्) भी निर्दोष नही है, क्योंकि ऐसे किसी प्रयोजन का निर्वचन हमारे (खाण्डनिक के) रहते सम्भव नही।

2. द्वितीय प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन .

भासमानाकारेन्द्रियसंयोगजं प्रत्यक्षम् - भासमान आकार से इन्द्रिय का जो सम्प्रयोग (सन्निकर्ष) है, तज्जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है।

यह लक्षण भी पूर्वोक्त रीति से ही अयुक्त है, क्योंकि प्रमाण विशेष "प्रत्यक्ष" का यह लक्षण - लक्षण द्वारा उपसंगृहीत कुछ लक्ष्यों का संग्राहक तो कुछ का व्यवच्छेदक मानना होगा। प्रमाण सामान्य का लक्षण व्यभिचारी शुक्तिरजतज्ञान का व्चवच्छेदक है, तो विशेष लक्षण को भी ऐसा होना चाहिए, किन्तु भासमान आकार तथा इन्द्रिय सम्प्रयोगजन्यत्व रूप यथाश्रुत यह लक्षण उक्त व्यभिचारी ज्ञान मे भी है। करण, व्यभिचारी ज्ञान की भासमान इन्द्रियत्वरूप आकार से इन्द्रिय के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न होता है। अत ऐसा यथाश्रुत लक्षण नहीं हो सकता।

3. तृतीय प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन :

"साक्षात्कारित्वं प्रत्यक्षत्वम्", साक्षात्कारित्व ही प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है। यह भी उचित लक्षण नहीं है, क्योंकि विकल्पासह होने से उसका निर्वचन ही नही किया ज्ञा सकता है।

समर्थन - वर्तुलत्व, पृथुबुन्धोदरत्व आदि विशेषों से सहिता जो घटादि विषय हैं, उनका ज्ञान ही साक्षात्कारी पदार्थ है।

खण्डन - विशेष के साहित्य को यदि उपलक्षण माने, अर्थात् विशेष जिसमें स्वरूप से रहता हो- विशेष भी ज्ञान में भासता हो, यह नियम नहीं है। यदि ऐसा माने, तो अनुमिति आदि में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी, करण अनुमिति के विषय बह्नि आदि में भी वस्तुरूप से विशेष विद्यमान ही है। यदि विशेष के साहित्य को विशेषण मानें तो विशेष श्रृंखला (परम्परा) का कहीं विश्राम मानते हैं या नहीं? कहीं विश्राम मानें तो जिस विशेष में

अन्य विशेष नही है, उस विशेष का ज्ञान प्रत्यक्ष न होगा। अत उस विशेष अश में उस विशेष से विशिष्ट का ज्ञान भी प्रत्यक्ष न कहा जायेगा। इसी तरह मूल प्रत्यक्ष पर्यन्त उस विशेष अश में प्रत्यक्षता नहीं होगी। यदि विशेष श्रृंखला का विश्राम न मानें, तो अनवस्था दोष का प्रसग होगा। किञ्च सभी विशेष स्वविशेष के साथ ही प्रत्यक्ष में भरसेंगे एवन्व यावत् विशेषविशिष्ट साध्य साधन में ही व्याप्तिग्रह होने से अनुमिति में भी यावत् विशेषों का भान हो जायेगा। अत अनुमिति में भी साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्ष) हो जायेगा।

समर्थन - विशेष अनन्त है, उनमे एक अनुगत रूप नहीं है। अत अनुमिति में उनका भान नही होगा।

खण्डन - यदि विशेष का अनुमिति में भान नही होता, तो व्यापक "अग्निमान् अयम्" इत्याकारक प्रतीति या व्यवहार भी अनुपन्न हो जायेगा। विशेष परम्परा का कहीं विश्रान्ति न माने पर असम्भव दोष भी आ जाता है, क्योंकि "घटोऽयम्" इस प्रकार के ज्ञान में प्रत्यक्षव सिद्ध करने के लिए घट में या तो अनन्त विशेषों की कल्पना करनी होगी या अकेले अनिर्वचनीय "साक्षात्व" धर्म की कल्पना। इनमें अनेक विशेषों की अपेक्षा एक "साक्षात्व" धर्म की कल्पना ही लघु एवं श्रेयस्कर है। "अनिर्वचनीय साक्षात्व" धर्म के द्वारा साक्षात्व व्यवहार भी सम्पन्न हो जाता है, अत पारमार्थिक साक्षात्व की कल्पना का बोध था - साक्षात्व-व्यवहार, उसकी भी अन्यथा (अनिर्वचनीय साक्षात्व की कल्पना से) ही उत्पन्ति हो जाने से पारमार्थिक साक्षात्व की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

"सविशेषार्थप्रकाशत्व" - यहाँ पर विशेषणीभूत विशेष पदार्थ यदि भेद या प्रकार हैं तब निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भेदरहित वस्तुमात्र का भान होने से अव्याप्ति हो जाती है। यदि निर्विकल्पक ज्ञान में भी विषय वस्तु स्वेतर विश्व से व्यावृन्त होकर ही प्रतीत होती है, ऐसा माना जाता है, तब अनुमानादि में भी प्रत्यक्षत्वापन्ति होती है, क्योंकि वहाँ भी विशेषरहित सामान्य माना का भान न मानकर सविशेषविषयक भान ही मानना होगा। सविशेषार्थप्रकाश को प्रत्यक्ष माना जाता है।

4. चतुर्थ प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन :

इन्द्रियकरणकानुभूतित्व प्रत्यक्षत्वम् । इस लक्षण में कतिपय विद्वान जो अन्योऽन्याश्रयता का उद्भावना किया करते हैं कि "इन्द्रिय" का लक्षण किया जाता है - "साक्षात्कारिधीकरणत्वमिन्द्रियत्वम्" । इस प्रकार साक्षात्कारित्व और इन्द्रियत्व परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं, अत अन्योन्याश्रयता होती है । वह अन्योऽन्याश्रयता दोष सगत नहीं, क्योंकि इन्द्रिय का ऐसा भी लक्षण किया जा सकता है, जिसमें साक्षात्कारित्व की अपेक्षा न हो, वैसा लक्षण है - "भावन्ते अज्ञातत्वे च सति प्रमाकरणत्वमिन्द्रियत्वम्" । अभाव विषयक प्रमा के करणीभूत अनुपलब्धि की व्यावृत्ति के लिए भवित्व तथा अनुमित्यादि के करणीभूत लिङगपरामर्शादि का व्यवच्छेद करने के लिए अज्ञान विशेषण प्रमाकरण का रखा गया है ।

उक्त लक्षण में यह एक बाधा अवश्य आड़े आ जाती है कि विशेषण की सिद्धि के बिना विशिष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होती । उक्त लक्षण में विशेषणीभूत प्रमारूप कार्य की सिद्धि यदि पहले अन्य किसी साधन से नहीं की जाती, तब विशेषण सिद्धि होती है और अन्य किसी साधन से प्रमा की सिद्धि करने पर वही अन्य साधन ही उसका लक्षण बन जाता है, यह प्रकृत लक्षण व्यर्थ हो जाता है ।

5. पंचम - प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन :

ज्ञातताविशेषजनकत्व साक्षात्कारित्वम् । "ज्ञान से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है" ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि "ज्ञान" पद से यदि ज्ञान सामान्य का ग्रहण करें, तो निर्विकल्पक ज्ञान से जन्य होने से सविकल्पक ज्ञानमात्र में अव्याप्ति हो जायेगी । यदि सविकल्पक ज्ञान का ग्रहण करें तो भी अभाव आदि का ज्ञान सविकल्पक प्रतियोगिज्ञान से जन्य होता है । अत उसमें अव्याप्ति हो जायेगी ।

निर्विकल्पक जन्य सविकल्पक में अव्याप्ति से ही, विषयान्तर के ज्ञान से अजन्य ज्ञानत्व प्रत्यक्षत्व है, यह लक्षण भी निरस्त है । यदि कहा जाय कि अनुमिति में लिङगादि विषयान्तर के ज्ञान से जन्यत्व रहता है और सविकल्पक विषयक ही निर्विकल्पक से सविकल्पक की उत्पत्ति होने से विषयान्तर ज्ञानजन्य ज्ञानत्व के अभाव से अव्याप्ति नहीं है

तो यह कहना ठीक नही, क्योंकि निर्विकल्पक स्वरूप मात्र का ग्रहण करता है, स्वविषय से अधिक के व्यवच्छेद (स्वविषय से भिन्न के भेद) को नही और सविकल्पक को अधिक व्यवच्छेदरूप विषयक्ता रहती है, अत. विषयान्तर (स्वरूपमात्र) के ज्ञान से जन्य सविकल्प मे अव्याप्ति होगी। यदि कहा जाय कि अधिक व्यावृत्तिविशिष्ट वस्तु स्वरूपमात्र से भिन्न नही है तो भी सविकल्पक ज्ञान अधिक की व्यावृत्ति के उस अवधि (भेद प्रतियोगी) के ज्ञान से भी जन्य होता है क्योंकि भेद ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान बिना हो नही सकता। अत अव्याप्ति होगी। इसी प्रकार हस्वादिरूप विषयान्तर के ज्ञानजन्य दीर्घादि ज्ञान में अव्याप्ति होगी, क्योंकि दीर्घत्व की अवधि जो हस्वत्व उसके ज्ञान से अधिक ही दीर्घज्ञान में भासता है। (स्वविजय के अन्तर्गत) जिसका विषय हो, उस ज्ञान से अजन्यत्व प्रत्यक्षत्व है। अनुमिति के अन्तर्गत विषयक धूमव्याप्तिज्ञानादिजन्यत्व अनुमिति को है और सविकल्पक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही विषय निर्विल्पक का रहता है, अत. अतिव्याप्ति एव अव्याप्ति नहीं है, बाकी रहा सविकल्पक अभावादि का ज्ञान जहाँ अभावादि का ज्ञान स्वविषय से विषयान्तर प्रतियोगी के ज्ञान से होता है। परन्तु वहाँ भी जैसे प्रत्यभिज्ञा में तत्ता भासती है वेसे अभावादिसप्रतियोगिक ज्ञान मे प्रतियोगी अवश्य प्रविष्ट होकर भासता है अत प्रतियोगी विषयान्तर नहीं कहा जा सकता यदि प्रतियोगी को स्वविशिष्ट अभावादि अर्थो में प्रविष्ट नहीं माना जाय, तो प्रतियोगिभिन्नतारूप से विशेषण देना होगा कि स्वविषयान्तर्गत प्रतियोगिभिन्नर्थ के ज्ञान से अजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। यह लक्षण भी स्वपद से क्षार कर दिया गया है अत युक्त नहीं है, क्योंकि स्वपद से ज्ञानमात्र के ग्रहण करने पर अनुमानादि में अतिव्याप्ति होगी एवं व्यक्ति विशेष का ग्रहण करने पर अव्याप्ति होगी।

स्वकालावच्छिन्न (ज्ञानकाल मे वर्तमान) अर्थ का बोधक (प्रकाशक) ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, यह लक्षण भी नहीं बन सकता है, क्योंकि यहाँ भी पूर्व के समान स्वशब्द के अर्थ का विवेचन नहीं हो सकता और अनुमानादि का व्यवच्छेद (निवारण) भी कैसे होगा? भूत एवं भावी से अतिरिक्त वस्तु की अनुमिति तथा शब्दादि ज्ञान भी वर्तमानार्थ के बोधक होते हैं। यदि कहा जाय कि उस अनुमानादि में व्याप्ति आदि में प्रविष्ट जो काल उस काल में नियतार्थत्व रहता है कि "यत्र यदा धूमस्तत्र तदा वह्नि. " इत्यादि। और उस व्याप्तिकाल के नियतत्व से ही अनुमिति काल में नियम से अग्नि भासती है, वस्तु स्वभाव से नहीं। इसी प्रकार जहाँ पूर्ण चन्द्रोदय से समुद्रवृद्धि का अनुमान होता है (पूर्ण चन्द्रोदय स्वकालिक समुद्रवृद्धि वाला है,

गतच्चन्द्रोदयवत) वहाँ भी व्याप्ति में प्रविष्टता ही तादृशत्व (अनुमिति मे अथकलित्व) का प्रयोजक है । अर्थात् जब जब पूर्ण चन्द्रोदय होता है, तब-तब समुद्रवृद्धि होती है, इस व्याप्तिज्ञानमूलक ही चन्द्रोदय काल में समुद्र की वृद्धि के अनुमान करने पर, वृद्धिरूप अनुमिति विषय की वर्तमानता सिद्ध होती है; प्रत्यक्ष के समान विषय के स्वभाव से नहीं (सम्मुख उपस्थित रूप से नहीं) यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि किसी प्रकार विषय की वर्तमानता हो, तो स्वकाल (ज्ञानकाल) से अवच्छिन्न (युक्त) अर्थवाली अनुमिति हो जाती है अत. उसमें अतिव्याप्ति होती है ।

6 षष्ठम प्रत्यक्ष लक्षण का खण्डन :

मेयजनितत्वं प्रतयक्षत्वम् । इस लक्षण में सामान्यत मेयजनितत्व विवक्षित है ? अथवास्वमेयजनितत्व ? प्रथम पक्ष के अनुसार पर का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी भी घटादिमेय से जनित हो सकता है, अत घट-ज्ञान में पट प्रत्यक्षत्व का अति प्रसंग होता है । स्वमेव-जनितत्व कहने पर यद्यपि उक्त अतिप्रसग नहीं रहता, क्योंकि पट का वही प्रत्यक्ष हो सकता है, जो पटरूप मेय से उत्पन्न होता है, घटज्ञान पट से उत्पन्न नहीं, अत. उसे पट का प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता, तथापि स्वत अन्तनुगत धर्म है, अत स्वतंत्र घटित लक्षण में अननुगम दोष स्पष्ट है । स्वत. को अनुगत मानने पर पूर्वोक्त अतिप्रसंग बना रहता है, क्योंकि अनुगतार्थक "स्व" पद से सभी ज्ञानों का ग्रहण हो जाता है ।

7 येनप्रमिते सति न प्रमित्सा भवति, तत्साक्षात्कारि :

शंका - अनुमानादि प्रमाण ज्ञानों के द्वारा प्रमित पदार्थ से प्रत्यक्षत प्रमित्सा होती है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमित हो जाने पर उस पदार्थ को अन्य प्रमाण से प्रमित करने की इच्छा नहीं रहती । अत जिस ज्ञान के द्वारा प्रमित पदार्थ में पुन. प्रमित्सा नहीं रहती, उस ज्ञान को साक्षात्कारिज्ञान कहा जाना नितान्त युक्ति-युक्त है ।

समाधान - प्रत्यक्षत. अवगत वस्तु की प्रमित्सा कभी नहीं रहती, यह बात नहीं, क्योंकि पुत्रादि प्रिय पदार्थो को एक बार देख लेने मात्र से तृप्ति नहीं होती, बार-बार उनके देखने की इच्छा बनी रहती है ।

शङ्का - प्रत्यक्षत अवगत वस्तु के प्रत्यक्षीकरण की इच्छा तो होती है, किन्तु अनुमित्सादि नही होते, अत जिस ज्ञान के अनन्तर विजातीय प्रमाण से प्रमित करने की इच्छा नही रहती, वह ज्ञान प्रत्यक्ष है - ऐसा लक्षण करने पर कोई दोष नही होता है ।

समाधान - समान जाति वाले पदार्थ को सजातीय और उससे भिन्न पदार्थ को विजातीय कहा जाता है, अत सजात्य का ज्ञान न होने पर विजातीयता का ज्ञान नही हो सकता, अत. प्रत्यक्षत्वरूप जाति का ज्ञान होने पर ही यह लक्षण प्रवृत्त हो सकेगा । उसका ज्ञान इसी लक्षण से होगा ? या दूसरे लक्षण के द्वारा ? इसी लक्षण से मानने पर आत्माश्रयता और अन्य लक्षण के द्वारा मानने पर इस लक्षण की व्यर्थता प्रसक्त होती है ।

8- **अज्ञायमानसाधारणकारणकानुभवत्वम् -**

9 कारण विशेषणी कृतभावत्वं साक्षात्कारित्वम्

शङ्का - अज्ञायमान है असाधारण कारण जिसका, ऐसा अनुभव साक्षात्कारित्वज्ञान कहलाता है । घटादिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान के चक्षुरादि असाधारण कारण सदैव अज्ञायमान होकर ही कारण होते हैं, ज्ञायमान होकर नहीं । अत घटादि के प्रत्यक्ष में लक्षण घट जाता है अथवा उक्त लक्षण घटक कारण का भावत्व विशेषण लगाकर प्रत्यक्ष का लक्षण किया जा सकता है - "अज्ञायमानसाधारणभावकारणकानुभवत्वम्" । भावत्व विशेषण लगाना आवश्यक है, अन्यथा अभाव-प्रमा की भी करण भूत अनुपलब्धि भी अज्ञायमान होकर ही करण मानी जाती है, अत वहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है ।

समाधान - उक्त लक्षण दीर्घादि सापेक्ष पदार्थो के प्रत्यक्ष मे अव्याप्त हो जाता है, क्योंकि उसके असाधारण कारणीभूत अवधि आदि पदार्थ, सदैव ज्ञायमान होकर ही कारण होते हैं, जैसे "इदमस्तात् शरीराद् दीर्घम्", "इदमस्माद् ह्रस्वम्" "इदमनेन सदृशम्" यहाँ दीर्घता और ह्रस्वता के अवधिभूत शरीरादि पदार्थो का ज्ञान परमावश्यक है ।

शङ्का - दीर्घादि सापेक्ष पदार्थो के प्रत्यक्ष में अवधिभूत शरीरादि कारण नहीं होते, अपितु उनका ज्ञान कारण होता है, क्योंकि अवधिभूत पदार्थो के अतीत हो जाने पर भी दीर्घतादिकी प्रतीति होती है, अत. उस प्रतीति के अव्यवहित पूर्वक्षण में अवधिभूत पदार्थ का

रहना सम्भव नही, उनका ज्ञान ही रह सकता है।

समाधान - जैसे अज्ञायमान अवध्यादि पदार्थो को दीर्घतादि के ज्ञान का कारण नही माना जा सकता है, वैसे ही अज्ञायमान धूमादि को भी बह्नयादि की अनुमिति का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि धूम का प्रात. दर्शन जिसने किया है, वह "तत्रासीत अग्नि." , इस प्रकार का अनुमान करता है, वहाँ धूम को कारण न मानकर धूमज्ञान को ही कारण माना जाता है। ज्ञान विशेषण विधया जैसे अवधि पदार्थ कारण होता है, वैसे ही धूमादि भी।

शङ्का - अनुपलब्धि में अति प्रसग हटाने के लिये "असाधारण कारण" पद के द्वारा करणार्थ विवक्षित है, दीर्घादि सापेक्ष पदार्थों के ज्ञान में अवध्यादि करण नही माने जाते, इन्द्रियाँ ही करण हैं, वे अज्ञात होकर ही करण होती हैं, अत वहाँ अव्याप्ति नही होती।

समाधान - जहाँ पर पुरवा हवा चलते देख भावी मेघ-माला का अनुमान कर उस अनुमित मेघ-माला के द्वारा भावी वर्षा का अनुमान किया जाता है वहाँ अविद्यमान मेघ-माला कारण न होकर उसका ज्ञान ही अनुमिति का करण होता है, वह ज्ञायमान नही, अत उस अनुमिति में अज्ञायमान करणकत्वरूप प्रत्यक्षत्व अतिप्रसक्त होता है।

प्रत्यक्ष के अन्य लक्षणों का खण्डन

10. अव्यवहितार्थ प्रमात्वं साक्षात्वम्

इस लक्षण के घटक अव्यवधान का स्पष्टीकरण करने के लिये किसकी अपेक्षा व्यवधान है? यह निर्दिष्ट करना परमावश्यक है। केवल व्यवधानापेक्षित पदार्थ का निरूपण ही असम्भव नही, अपितु "व्यवधान" पदार्थ का निरूपण भी सुकर नहीं। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय की अपेक्षा व्यवधान विवक्षित है और असन्निकर्ष व्यवधान पदार्थ तब द्रविड़ प्राणायाम की पद्धति अपना कर "इन्द्रियसन्निकृष्टार्थ प्रकाशत्व" को ही प्रत्यक्षत्व कहा जायगा, वह तो सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि स्वकीय नेत्र-गोलक के अनुमान में अति प्रसक्त है।

11. ज्ञानाजन्यज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वम् :

यदि कहा जाय कि "ज्ञानाजन्यजानत्वं प्रतयक्षत्वम्" - ऐसा लक्षण विवक्षित है, तब सविकल्पक प्रत्यक्ष मे अव्याप्ति रह जाती है क्योंकि वह निर्विकल्पक ज्ञान से जनित

होता है, पदादिविषयक निर्विकल्पक से नही । तब भी उसी घटविषयक सविकल्पक - प्रत्यक्ष में अव्याप्ति बनी रहती है, क्योंकि "स्वविषयाद्भिन्न यद्विषयजातम्" "तद्विषयकात् निर्विकल्पकादजन्यम्" - यहाँ पर स्वविषय अपादान की अवधि हो जाती है, अत अवधि ज्ञान से जनित होने के कारण ज्ञानजन्यज्ञानत्व ही उसमे स्थिर रहता है ।

12. स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यधीत्वं प्रत्यक्षत्वम्

"अनेन सदृशम् इदम्" इत्यादि सप्रतियोगि पदार्थो के प्रत्यक्ष ज्ञान मे इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह अपने प्रतियोगी भूत पदर्थ को वैसे ही अपनी विषयकोटि मे समेट लेता है, जैसे प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष तत्ता को, अत प्रतियोगी पदार्थ न तो उसका अविषय रहता है और न प्रतियोगी का ज्ञान उसका जनक, अत "स्वविषयानन्तर्गत विषयविषयकज्ञानाजन्यत्वम्" उस प्रत्यक्ष मे सुरक्षित रहता है । अथवा यदि उस प्रत्यक्ष मे प्रतियोगिज्ञान जन्यत्व मान भी लिया जाता है तब भी स्वविषयानन्तर्गतस्वप्रतियोगिभिन्नार्थज्ञानाजन्यधीत्वम्" - ऐसा परिष्कार करने पर कोई दोष नही रह जाता ।

समाधान - इस लक्षण में अननुगम दोष तो अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि इसका घटकीभूत स्वत्व अनुगत धर्म नहीं माना जाता । यह अनुनगम दोष आकार-प्रकार मे छोटा होने पर भी लक्षण की ग्राह्यता का वैसे ही घातक है, जैसे थोड़ा सा भी नमक जल की मधुरिमा का संहार कर जल को खारा बनाकर रख देता है ।

दूसरी बात यह भी है "स्वविषयानन्तर्गतार्थज्ञानाजन्यत्व" का ज्ञान किसी एक प्रत्यक्ष रूप कार्य व्यक्ति में निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि अजन्यत्व-घट का जन्यत्व पदार्थ अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही जाना जा सकता है और कार्य कारण का अन्वय-व्यतिरेक उनके अनुगत धर्मों के बिना अवगत नहीं हो सकता । अनुगत धर्म की सिद्धि मानने पर उसे साधक पदार्थ की विभीषिका सामने आकर पूर्ववत् लक्षण - प्रणयन को उपप्लुत कर देती है ।

13. स्वकालावच्छिन्नार्थबोधकत्वं साक्षात्त्वम् :

जो लोग ईश्वर या योगी का अतीतानागत विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानते, वे वर्तमान काल के पदार्थो का ही प्रत्यक्ष मानते है, जैसा कि कुमारिलभट्ट ने कहा है -

"सम्बद्ध वर्तमान च गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लोक वा पृ 160)। घट का प्रत्यक्ष जब हो रहा है, तब पटादि भी वर्तमान है, अत घट प्रत्यक्ष में पटादिविषयकत्वापत्ति का वारण करने के लिए प्रत्यक्ष और उसके विषय को नियन्त्रित करना होगा। कालजन्य पदार्थ मात्र का अवच्छेदक माना जाता है, अत समानकालावच्छिन्न ज्ञान और विषय का संकलन करने के लिए ऐसा लक्षण बनाना होगा - "स्वावच्छेदककालावच्छिन्नार्थग्राहकत्व साक्षात्त्वम्"।

समाधान - इस लक्षण में "स्व" पद के द्वारा ज्ञान-मात्र का अभिधान करने पर अतिप्रसंग और कोई एक ज्ञान-व्यक्ति का ग्रहण करने पर अव्याप्त्यादि के पूर्व कथित दोष प्रसक्त होते ही है, अत उनसे अतिरिक्त यह भी जिज्ञासा होती है कि इस लक्षण के द्वारा विजातीय अनुमानादि प्रमाणों की व्यावृत्ति क्योंकर होती है?

14 षोढासन्निकर्षेतराप्रयुक्तविषयनियं ज्ञानं प्रत्यक्षम् -

समर्थन - षट् प्रकार के सन्निकर्ष से जो इतर हो, उसके द्वारा अप्रयुक्त जिस ज्ञान के विषय का नियम हो, वह प्रत्यक्ष है, ऐसा लक्षण करेगे।

खण्डन - "इदं रजतम्" इस ज्ञान में रजत्व का जो समवाय भासता है, उसका प्रयोजक दूरत्वरूप दोष है। अत वहाँ अव्याप्ति हो जायगी। प्रमा और अप्रमा उभयरूप सामान्य से प्रत्यक्ष ज्ञान का यह लक्षण है। अत प्रमा प्रत्यक्ष ही लक्ष्य है, ऐसा आप नहीं कह सकते।

यदि अख्यातिवादी कहें कि हमारे मत में भ्रम नहीं होता, अत भ्रम में अव्याप्ति नहीं है, तो भी एक-एक सन्निकर्ष से इतर ले अथवा षट् सन्निकर्ष से संयुक्तसमवाय उभयया संयोगादि षट से इतर है ही। अत. संयुक्त समवाय से अन्य प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायेगी।

15. साक्षाधीः स्वरूपधीः -

"स्वरूप का ज्ञान अर्थात् जो धर्म जिसमें हो, उस धर्म से विशिष्ट उस धर्मी का ज्ञान प्रत्यक्ष है।"

खण्डन - अनुमिति में भी जो धर्म जिसमे है, उस धर्म से विशिष्ट ही धर्मी का उल्लेख होता है। अत वहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन - लिङगादि-काल से अनवच्छिन्न धर्मी की जो बुद्धि है, वही स्वरूप धी है और वही प्रत्यक्ष का लक्षण है। अनुमिति में लिङगकाल से अवच्छिन्न धर्मी भासता है, अत उसमें अतिव्याप्ति नही होगी।

खण्डन - जिस स्थल मे विशिष्ट मेघोदय से भावी वृष्टि की अनुमिति करते है, उस स्थल मे लिङगकाल से अनवच्छिन्न ही धर्मी भासता है। अत उस अनुमिति में अतिव्याप्ति सुस्थिर ही है।

कोई आचार्य कहे हैं कि "अनुमिति मे साध्य केविशेषणरूपसे लिङगकाल से अवच्छिन्नत्वभासता ही है।" अन्यथा पर्वत में धूलीपटल में धूम्रपान के अनन्तर उत्पन्न "पर्वतो वह्निमान" यह ज्ञान प्रमा हो जायेगा। "उक्त ज्ञान प्रमा ही है", ऐसी इष्टापन्ति आप नहीं कह सकते। कारण, स्वीकृत प्रमा में अन्तर्भाव न होने से उक्त ज्ञान को पञ्चमी प्रमा मानना पडेगा, जो अनिष्ट है, किन्तु उनका यह कथन भी खण्डित जानना चाहिए, कारणभूत-भाविसाध्यक-स्थल में व्यभिचार होने के कारण लिङगकाल से अवच्छिन्नत्वसाध्य के विशेषणरूप से नहीं भासता। किन्च-लिङगकाल से अवच्छिन्नत्वका अनुमिति मे भान मानें, तब भी विशिष्ट अंश में उक्त ज्ञान प्रमा न होगा, किन्तु वह्नि अंश में प्रमा हो ही जायगा।

16. अनुपहितप्रतीतिः साक्षाद्धीः -

अनुपहित वसतु का जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।

खण्डन - विशेषण से उपहित विशेष्य के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन - "करण से उपहित जो न हो, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष है।"

खण्डन - घर के करण दण्ड से उपहित पुरूष विषयक "दण्डी पुरूष." इत्याकारक प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन - "स्वकरण से अनुपहित का जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।"

खण्डन - यह परिष्कार भी स्वपदरूप सिंह की कुक्षि में निक्षिप्त है। अर्थात् स्वपद के निवेश से ही खण्डित है। कारण स्वपद को यदि करण व्यक्तिपरक मानें तो जिस धूम व्यक्ति को स्वशब्द से ग्रहण करेंगे, उससे अन्य धूम से उपहित वह्नि की अनुमिति में अतिव्याप्ति हो जायगी। यदि स्वपद को कारण सामान्यपरक मानें तो अन्य के करण दण्ड से उपहित पुरूषादि के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी।

17. व्याप्त्यापहितत्वाद्यभावसमुच्चयवत्त्वं साक्षात्त्वम् ।

शङ्का - व्याप्त्युपहितत्वाभाव, सगत्युपहितत्वभाव और सादृश्योपहितत्वाभाव- इन तीनों अभावों का जिस ज्ञान में समुच्चय होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

समाधान - "अग्निव्यापोऽयं धूम" इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान में व्याप्त्युपहित धूम का भान होता है, अत यह प्रत्यक्ष ज्ञान क्योंकर कहलायेगा। इसी प्रकार संगति और सादृश्य से उपहित पदार्थों के प्रत्यक्षों मे भी उक्त लक्षण अव्याप्त होता है। अनुमिति बह्नयादि में लिङ्गोपहितत्वादि की सिद्धि भी नही होती, क्योंकि "पर्वतोऽग्निमान्" - इतनी ही प्रतिज्ञा की जाती है, धूमव्यापक वह्निमान नहीं। शब्द बोध में शब्दोंपधानादि का भान नही होता, अत उक्त विशेषण का ग्रहण करने पर भी अनुमिति और शब्दबोधादि में अतिव्याप्ति बनी ही रहती है।

18. अव्यवहितधीत्वं साक्षात्त्वम् ।

इन्द्रियों से अव्यवहित वस्तु की धी साक्षात् धी (प्रत्यक्ष) है।

खण्डन - अन्यवहितत्व का ज्ञान व्यवधान के निरूपण के अधीन है और वह व्यवधान विकल्पा "सह" होने से दुर्निरूप्य है। अत. यह लक्षण भी ठीक नहीं। यदि ज्ञेय और इन्द्रियों के बीच द्रव्य-विशेष की स्थिति को व्यवधान कहें तो विभु (आकाशादि) की अनुमितिरूप बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण, ज्ञेय (आकाशादि) और इन्द्रिय दोनों के

मध्य कोई द्रव्य नहीं है। यदि ज्ञापक (स्वजनक) ज्ञान की (स्व की उत्पत्ति से) पूर्व सत्ता को व्यवधान कहे, तो ह्रस्वात्वादि तथा परत्वादि ज्ञान भी प्रतियोगिज्ञान से जन्य है। अत ह्रस्वत्वादि ज्ञान में अव्याप्ति हो जायगी।

यदि केवल विशिष्ट वैशिष्ट्य को व्यवधान कहें, तो "दण्डी पुरूष." इस प्रत्यक्ष मे अव्याप्ति हो जायगी। एतदर्थ यदि धूमादि हेतु से विशिष्ट पर्वतादि पक्ष में बह्न्यादि साध्य का वैशिष्ट्य अनुमान का सादृश्य विशिष्ट का संज्ञावैशिष्ट्य उपमान का और शब्द विशिष्ट देशजात्यादि - वैशिष्ट्य शब्द का व्यवधान मानें तो वह भी नहीं कह सकते। कारण, धूमविशिष्ट मे स्वरूपेण प्रथम बह्नि का वैशिष्ट्य होता है और तद्ग्राहित्व अनुमान का व्यवधान कहते हैं अथवा धूमवैशिष्ट्य का ग्रहण कर बह्निवैशिष्ट्यग्राहक प्रतीति में धूमवैशिष्ट्य के प्राथम्य को व्यवधान कहते हैं ? दोनों ही नहीं कह सकते। यदि प्रथम पक्ष मानें तो कार्यकारणभाव मे विरोध हो जायगा। अर्थात् कारण होने से बह्नि धूम से प्रथम ही सिद्ध है, फिर धूम विशिष्ट में ही बह्निवैशिष्ट्य का व्यवधान कहें, तो पूछा जायगा कि यह धूमवैशिष्ट्य किसमें विशेषण है - धर्मी में या साध्य में? यदि धर्मी (पर्वत) में धूमवैशिष्ट्य को विशेषण माने तो "धूमवान् पर्वतो वह्निमान धूमत्त्वात्" ऐसा ज्ञान का आकार होने से अंशत· आत्माश्रय हो जायगा, क्योंकि विशिष्टवृत्ति धर्म विशेषणवृत्ति भी होता है। यदि धूमवैशिष्ट्य साध्य का विशेषण कहें तो "वह्नि· धूमव्यापक." इस व्याप्ति प्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वहाँ साध्यविशेषणत्वेन धूमवैशिष्ट्य का व्यवधान होने से एतादृश अव्यवहित वस्तुधीत्व ही नहीं रहता।

19· ज्ञानस्य जति भेदः साक्षात्त्वम् ।

ज्ञान का कोई जाति विशेष साक्षात्व है, वही प्रत्यक्ष का लक्षण है। यहाँ कोई प्रभाकरानुयायी कहते हैं कि साक्षात्त्व अनुभवत्व के साथ परापरत्व की अनुपपत्ति से (संकर हो जाने से) साक्षात्त्व जाति ही नहीं है। क्योंकि स्मृति को भी साक्षात्करित्व है। अत अनुभवत्व रहित स्मृति में साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) रहता है और प्रत्यक्षत्व रहित अनुमिति आदि में अनुभवत्व रहता है, एवं चाक्षुषादि प्रत्यक्ष में अनुभवत्व साक्षात्त्व दोनों के रहने से जाति संकर हो जाता है। यह जातित्व का बाधक है, अतः अज्ञातकरणजत्व से स्मृति में साक्षात्त्व होते भी जातित्व नहीं सिद्ध हो सकता। परन्तु यह कथन नहीं बन सकता, क्योंकि साक्षात्त्व को जाति

मानने वाले नैयायिक स्मृति के साक्षात्त्व को नहीं मानते है। अत उनके मत मे साक्षात्त्व अपर जाति है और अनुभवत्व उससे पर (अधिक देश वृत्ति) है, सकर नहीं है।

2 - अनुमान प्रमाण का खण्डन

प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणों की तरह अनुमान प्रमाण के लक्षण भी अनिर्वचनीय है। "अनुमीयतेऽनेनेति अनुमानम्", इस पक्ष को स्वीकार कर लिङग परामर्श को ही अनुमान कहेगे।[23] इस अर्थ के अनुसार लिङग परामर्श (संदिग्ध साध्य वाले मे लिङग = हेतु के ज्ञान) को अनुमान कहते है तो लिङग के ज्ञान के बिना लिङग परामर्श का ज्ञान नही हो सकता, अतएव लिङगत्व क्या है ? अप्रकट अर्थ को जो समझाये वह लिङग कहा जाता है (लीनमर्थ गमयतीति लिङगम्) यहाँ साध्य से व्याप्त पक्षधर्मत्व को लिङगत्व माना गया है।

निर्वचन व्याप्तिविशिष्ट धूमादि का पक्षवृत्तित्व ही लिङग है।

खण्डन यहाँ यह कहना है कि 'जिस धर्मी मे साध्य का सन्देह हो वह पक्ष है।" अतएव यहाँ प्रश्न है कि "सदेह" पक्ष मे उपलक्षण है या विशेषण ? यदि उसे उपलक्षण मानें तो जहाँ पहाड मे आग का प्रत्यक्ष होने पर भी धूम का परामर्श होता है, वहाँ धूमपरामर्श को अनुमान तथा धूम को लिङग कहा जायगा। वर्तमान सदेह से उपलक्षित धर्मी मे वृत्ति- व्याप्तिविशिष्ट धूम ही लिङग है। यहाँ सदेह वर्तमान नहीं है, अत अति प्रसग नहीं, यह भी नहीं कह सकते। अतएव वह विशेषण ही होता है, उपलक्षण नहीं। अत यदि सदेह विशेषण हो, तो वह धर्मी का विशेषण हुआ, उपलक्षण नहीं। फिर यदि उसको धर्मी का विशेषण मान लें, तो आग का अनुमान हो जाने से तदर्थ प्रवृत्ति न होनी चाहिए। कारण, धर्मी का नाश होने पर धर्म के लिए प्रवृत्ति नहीं होती। यहाँ अग्नि की अनुमिति हो जाने पर तो सदेह नष्ट हो जाने से संदेह विशिष्ट धर्मी का भी नाश हो जाता है।

निर्वचन सदेह विशिष्ट पर्वत में विद्यमान धूम से केवल पर्वत में अग्नि की अनुमिति होती है और साध्य-सिद्धि के सदेह न होने पर भी पर्वत विद्यमान रहता है। अत.

---

23 लिङग परामर्शोऽनुमानम्। खण्डन., चौ. वि , पृष्ठ 365

धर्मी के नाश के तुल्य अप्रवृत्ति नहीं होगी। हेतु और साध्य के बीच इस प्रकार का (हेतु समग्र पक्ष मे रहे और साध्य पक्ष के एक अश मे रहे, यह) वैयधिकरण्य होता हो तो वह हमे इष्ट है।

खण्डन यदि सदेहविशिष्ट पर्वत मे धूम और केवल पर्वत मे अग्नि को मानें तो साधन मे नियत-सामानाधिकरणारूप साध्य की व्याप्ति ही न रहेगी अर्थात् व्याप्त्यसिद्धि हो जायेगी।

निर्वचन सदेहयोग्य साध्य से विशिष्ट पर्वत पक्ष है और उसमे वृत्ति व्याप्तिविशिष्ट धूम हेतु (लिङग) है।

खण्डन व्यापक अग्नि का प्रत्यक्ष होने पर भी धूम हेतु का ज्ञान (परामर्श) हो जायगा, क्योंकि साध्य का निश्चय होने पर भी साध्य सदेह की योग्यता है ही, कारण योग्यता यावद्द्रव्यभावि हुआ करती है। अन्यथा उक्त पक्ष मे कालान्तर मे भी सशय न होने से अनुमिति न होगी।

निर्वचन लिंग व्याप्तिविशिष्ट है और उसका परामर्श ही अनुमान है।

खण्डन जो हेतु व्याप्तिविशिष्ट है, उसका स्वरूप से परामर्श अनुमान है या व्याप्तिविशिष्ट स्वरूप से हेतु का परामर्श अनुमान है? प्रथम पक्ष मे जिस पुरूष को व्याप्तिग्रह न हुआ हो, उसको "पर्वतोधूमवान्" यह अनुमान हो जायगा। द्वितीय पक्ष मे व्याप्ति को विषय करने वाला ज्ञान भी अनुमान हो जायगा।

अतएव (उक्त दोष से ही) द्वितीय लिगपरामर्श (यत्र तत्र धूमस्तत्र तत्र वहिन) या "तृतीय लिंगपरामर्श (धूमवाश्चायम्) अनुमान है" यह कथन भी युक्त नहीं है। किन्व धारावाही ज्ञान का द्वितीय या तृतीय "पर्वतोधूमवान्" यह ज्ञान भी अनुमान हो सा जायगा। किन्व जहाँ व्याप्ति के प्रत्यक्ष को बाद "धूमवह्नी व्याप्यव्यापकलौ" यह मानस-ज्ञान हुआ, तो वह भी अनुमान हो जायगा। "वह ज्ञान अनुमान ही है" ऐसी इष्टापत्ति नहीं कह सकते, कारण वहाँ साध्य का सदेह न होने पर्वत पक्ष नहीं है। अत उस पर्वत में विद्यमान हेतु, सिद्धसाधनस्थल की तरह, पक्ष का धर्म ही नही हो सकता।

समर्थन स्वार्थ-अनुमान मे अपक्षधर्मत्व दोष नहीं है अत व्याप्तिप्रत्यक्ष के अनन्तर जात "धूमवह्नी व्याप्यव्यापकौ" यह धूमपरामर्श अनुमान ही है।

खण्डन यदि उक्त परामर्श को अनुमान मान लें, तो उसके अनन्तर होने वाला "पर्वतो वह्निमान" यह ज्ञान अनुमानजन्य होने से अनुमिति तथा चक्षु से अन्वित होने से प्रत्यक्ष भी होगा। एवन्च अनुमितित्व और प्रत्यक्षत्व मे सकर हो जायगा।

निर्वचन "व्यापकविषयक जो व्याप्यपरामर्श वह अनुमान है।" ऐसा कहेगे।

खण्डन जो व्यापक को विषय न करे, ऐसा व्याप्यविषयक ज्ञान हो ही नही सकता, कारण व्याप्य व्यापक से निरूपित ही होता है, अर्थात् "इसका यह व्याप्य है" ऐसा ही व्याप्य का ज्ञान होता है। अत व्याप्ति मे विशेषण रूप से व्यापक अवश्य भासता है, अन्यथा विशेषण के भान के बिना विशिष्ट का भान ही न हो सकेगा।

निर्वचन 'जिस ज्ञान का विशेषरूप से व्यापक विषय न हो, ऐसा जो व्याप्य परामर्श वह अनुमान है" ऐसा कहेगे।

खण्डन "धूमाग्नि व्याप्यव्यापकौ" इस आप्त के उपदेश से या पूर्व काल मे जिस पुरूष को बार-बार बह्नि - धूम का साहचर्य ज्ञान हुआ हो उस पुरूष के बह्नि धूम के अप्रत्यक्ष काल मे विचार (तर्क) से जात व्याप्य परामर्श अनुमान हो जायगा। कारण शाब्द या मानस होने से उक्त ज्ञानों मे व्यापक विशेष रूप से नहीं भासता।

समर्थन हम ज्ञानमात्र को नहीं, किन्तु प्रत्यभिज्ञा को परामर्श कहते है। उक्त शाब्द या मानसज्ञान प्रत्यभिज्ञारूप नही है, अत उनमें अनुमान-लक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी।

खण्डन . तब तो विचार या आप्तोपदेश से व्याप्तिज्ञान होने के बाद जायमान विचार या आप्तादेश से जो व्याप्ति गृहीत हुई थी, वही यह है, इत्याकारक व्याप्ति - प्रत्यभिज्ञा भी अनुमान हो जायगी।

निर्वचन . विशेषरूप से व्याप्यविषयक परामर्श को ही अनुमान कहेंगे, अर्थात् जिसका विषय विशेषरूप से व्यापक नहीं हो वह अनुमान है।

खण्डन 'विशेष रूप से व्याप्यविषयक हो" इस वाक्य का क्या पर्वतादिनिष्ठ तत्तद् धूमादिविषयक हो, यह अर्थ विवक्षित है या सामान्यत व्यक्तित्वधिकरण विषयक हो, यह अर्थ है ? प्रथम पक्ष मे अरण्यादिगत धूम-परामर्श मे अव्याप्ति हो जायगी, कारण लक्षण मे पर्वतगत धूमव्याप्ति विशेष होने से अरण्यगत धूम मे उक्त लक्षण असभव है।

द्वितीय पक्ष मे सामान्यत व्यक्तित्वाधिकरण प्रत्यभिज्ञान का भी विषय है, अत पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा मे अतिव्याप्ति हो जायगी।

निर्वचन "यदा यदा धूमस्तदा तदा बह्निन" ईदृश व्याप्तिग्रह मे काल भासता ही है, अत धूमकालिक अग्नि की अनुमिति हो ही सकती है।

खण्डन किसी देश मे दूसरे काल में भी धूम रहता है, अत अन्य काल की धूमकाल होने से उस काल मे भी अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

निर्वचन "तद्-शब्द परामर्श विषय धूमपरक है, अत अन्य काल मे अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति नहीं होगी।"

खण्डन यदि तद्-शब्द को परामर्श विषय तद्-तद् धूमव्यक्तिपरक मानें तो तत्तद् धूमव्यक्तिविशेष मे तो विशेष रूप से व्याप्तिग्रह है नहीं। फिर अनुमिति में उस काल का स्फुरण कैसे होगा? यदि तद-शब्द को जिस व्यक्ति मे व्याप्तिग्रह हुआ है, उस व्यक्तिपरक मानें तो सम्भव है कि अन्यकाल मे विद्यमान धूम मे भी व्याप्ति ग्रह हुआ हो। अत अन्य काल में भी प्रवृत्ति हो जायगी।

व्याप्ति के लक्षणादि का खण्डन

व्याप्ति पदार्थ भी क्या है?

1. अविनाभावी व्याप्ति
2. यद्भावे यद्वृत्तौ बाधकम्, तयोरन्वयो व्याप्ति
3. स्वाभाविक सम्बन्धो व्याप्ति
4. अनौपाधिक. सम्बन्धो व्याप्ति.

(I) अविनाभाव ही व्याप्ति शब्द का अर्थ है ।[24]

अविनाभाव क्या है ? (I) एकस्याव्यतिरेकेऽपरस्य भाव ? या (II) एकस्य व्यतिरेकेऽपरस्य अभाव ? प्रथम विकल्प के अनुसार अव्यतिरेक का अर्थ अन्वय है, अत एक (व्यापक) पदार्थ का अन्वय (भाव) होने पर दूसरे (व्याप्य) पदार्थ का भाव होना चाहिए । पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का घटादि कतिपय स्थलों पर अन्वय घट जाने मात्र से उनमे व्याप्ति स्वीकृत होनी चाहिए ।

शका पार्थिवत्व और लोहलेखत्व मे से अति प्रसग हटाने के लिए अविनाभाव का विशेषण दिया जा सकता है - सार्वत्रिक; । पार्थिवत्व और लोहलेखत्व का सर्वत्र अन्वय सुलभ नही, क्योंकि हीरे मे पार्थिवत्व होने पर भी लोहलेख्यत्व (लोहे की लेखनी से रेखाकन नही होता) ।

समाधान अविनाभावादि सम्बन्धों मे विवक्षित सार्वत्रिकत्व क्या है ? यदि सभी तज्जातीय व्यक्तियों मे विद्यमान सबध को सार्वत्रिक सम्बन्ध कहा जाय, तब यह सभी तज्जातीय व्याप्य व्यापक व्यक्तियों का परिज्ञान न होने पर सम्भव नही हो सकता, उन सभी व्यक्तियों का परिज्ञान विशेष रूप से नही हो सकता, क्योंकि अतीतानागतादि-घटित सभी व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों के साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप करण सुलभ नही ।

शका सभी धूम ओर अग्नि व्यक्तियों के साथ यद्यपि चक्षुरादि का कोई लौकिक सन्निकर्ष नहीं, तथापि सामान्य लक्षणारूप अलौकिक सन्निकर्ष सम्भव हो जाता है । व्याप्ति-ग्रहण काल मे सभी व्याप्य-व्यापक व्यक्तियों की उपस्थिति इसी सन्निकर्ष के माध्यम से सुलभ हो जाती है, इसको न मानकर किसी लिगपरामर्श से अनुमिति की कामना को वाचस्पति मिश्र ने वैसा ही बताया है, जैसा कि किसी स्त्री का हिजडे से विवाह कर उससे पुत्र की कामना करना । अत सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष का मानना परमावश्यक है, उसी के बल पर सार्वजनिक अविनाभाव का बोध हो सकता है ।

---

24 अविनाभावो व्याप्ति । ख ख , चौ वि , पृष्ठ 373.

समाधान   यदि सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति के आधार पर सभी पदार्थो का विशेष ज्ञान हो जाता है, तब सर्वज्ञता की प्रसक्ति होती है । यदि कोई व्यक्ति अपने को सर्वज्ञ मानता है, तब दूसरों के मन की बात बताकर अपनी सत्यता प्रमाणित कर सकता है ।

शंका   व्याप्ति - ग्रहण - काल मे प्रमेयत्वेन ही व्यक्तियों का ज्ञान होता है, विशेषत नही, सर्वज्ञता नाम है - विशेषत सर्वज्ञानवन्ता । विशेषत सर्वज्ञानवन्ता न होने के कारण सर्वज्ञत्वापादन नही किया जा सकता ।

समाधान   सर्वज्ञता के लिए जो रूप अपेक्षित है, उस रूप से वस्तु प्रमेय है ? या नहीं ? यदि है, तब सर्वज्ञता होनी चाहिए और यदि उस रूप से वस्तु प्रमेय नहीं, तो न सही जिस रूप से युक्त होकर वह प्रमेय है, उस रूप से तो सर्वज्ञता अवसित हो जाती है, किन्तु उस पर श्रद्धा तभी हो सकती है, जबकि हमारे चित्त की बात बता दे ।

शका   जैसे भेद को स्वरूप अन्योऽन्याभावरूप माना जाय या वैधर्म्य रूप, पर निश्चित है कि वह वस्तुओं मे भिन्न-भिन्न होता है, एक नही और अभेद सर्वत्र एक है, वैसे ही प्रमेयत्व सर्वत्र एक है, जिसे एकत्वेन वस्तुओं का ज्ञान है, उसे एकज्ञ कह सकते है, सर्वज्ञ नहीं, जैसे कि कहा गया - एक वस्तु यदि तत्त्वत (एकत्वेन) जानी जाती है, तब सभी पदार्थ तत्त्वत (एकत्वेन) ही जाने जाते है अन्य रूप से नहीं ।

समाधान   "नाना पदार्थ एकत्वेन अवगत होते है" - ऐसा कहने पर वदतोव्याघात दोष प्रसक्त होता है, क्योंकि नानात्व और एकत्व दो विरोधी धर्म है, एकत्र कभी नहीं रह सकते, तब आप यह कैसे कह रहे है कि - "सर्वं ऐक्येन प्रतीयमानमेक भवति" । इस प्रकार एकत्व का उपपादन न हो सकने के कारण पदार्थ अनेक है, उनका जानना सर्वज्ञता ही है ।

शंका .   नानात्व और एकत्व का एकत्र समान्जस्य रूप भेद से हो सकता है, अत तत्द्रूपेण नानात्व ओर प्रमेयत्वेन एकत्व मानने पर किसी प्रकार का व्याघात नही आता ।

समाधान   तत्तद्रूपावच्छिन्न पदार्थ यदि प्रमेय नहीं, तब प्रमेयत्व, केवलान्वयी धर्म नहीं हो सकता, एवं घटत्वपटत्वादि तत्तद्रूपेण पदार्थों में अप्रमेयत्व या असत्त्व प्रसक्त होता

है, अत तत्तद्रूपेण वस्तुओं का भी प्रमेयत्वेन ज्ञान मानना आवश्यक है, सर्वज्ञत्वापत्ति से नही बच सकते।

यदि किसी प्रकार सभी व्याप्य और व्यापक व्यक्तियों का ज्ञान मान भी लिया जाय तब भी उनमे व्यक्तिरूप सबंध का ज्ञान कैसे होगा ? उसका अस्तित्व भी कैसे प्रमाणित होगा ? जैसे सभी व्यक्तियों का भान इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा होता है, वैसे ही व्याप्ति का भी इन्द्रिय के द्वारा ही ग्रहण होगा, अत व्याप्ति-ग्राहक इन्द्रिय को ही व्याप्ति की सत्ता मे प्रमाण कहा जा सकता है। तब पृथिवीत्व और लोहलेख्यत्व का सबध कुछ स्थलों पर अवधारित होकर जो कहीं वज्र (हीरादि) मे व्यभिचार देखा जाता है, वह कैसे होगा ? क्योंकि इन्द्रिय प्रमाण से वह अवधारित हो जा चुका है।

यदि कहा जाय कि ऐसे स्थलों पर सम्बन्ध-प्रतीति को भ्रान्तिरूप माना जाता है, क्योंकि पश्चात् वह बाधित हो जाता है, तो ऐसा नही कह सकते, क्योंकि एक ही कारण से जनित कार्य कभी प्रमा ओर कभी भ्रम होता है, यह क्यो ? धूम ओर अग्नि की व्याप्ति-ग्राहक इन्द्रिय निर्दुष्ट है, किन्तु पार्थिवत्व और लोहलेखत्व की व्याप्तिग्राहक इन्द्रिय सदोष है, ऐसा भी नही कर सकते, क्योंकि दोषादोष का विवेचन दुष्कर है।

(2) **यद्भावे-यद्वृत्तौ बाधकम्, तयोरन्वयो व्याप्ति.**[25] -

शका जिस साध्य से विपक्ष मे जिस हेतु की वृत्तिता बाधित हो, उस साध्य के हेतुगत अन्वय (सहचार) को व्याप्ति कहा जाता है।

समाधान हेतु की विपक्ष वृत्तिता का जो बाधक कहा गया, वह क्या प्रमाणभूत है ? अथवा तर्क रूप ? प्रथम कल्प के अनुसार इन्द्रियों को उस (बाधक प्रमाणता के) पद पर अभिषिक्त नही किया जा सकता, क्योंकि अतीत अनागत, सूक्ष्म और विप्रकृष्ट विपक्षों के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष न होने के कारण विपक्ष वृत्तित्व की बाधकता इन्द्रियों मे सम्भव नही। अनुमान प्रमाण को भी विपक्षवृत्तिता का बाधक नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अनवस्था होगी, क्योंकि अनुमान में नियमत. व्याप्ति अपेक्षित हे और व्याप्तिग्रह के लिए विपक्षवृत्तित्व

---

25 ख. ख खा , चौखम्भा, विद्या , पृष्ठ 38।

के उत्तरोत्तर बाधकानुमान-परम्परा की कल्पना अनिवार्य है। विपक्षवृत्तिता की बाधक अर्थापत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथमत उसे अनुमान से भिन्न ही नही माना जाता और यदि भिन्न माना जाता है, तब लिंगी (व्यापक) के अभाव मे दृश्यमान लिंग की अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से ही लिंगि की सिद्धि पर्यवसित हो जाती है, अनुमान की आवश्यकता ही नही रह जाती। यदि लिंगि सिद्धि के अननुगुण अर्थापत्ति ली जाती है, तब उसे विपक्षवृत्तित्व का बाध नहीं हो सकता।

किसी प्रकार अर्थापत्ति को यदि विपक्षीवृत्तिता का बाधक मान भी लिया जाय तो भी व्याप्तिस्वरूप के विषय मे जिज्ञासा होती है कि क्या ?

(अ) क्या समस्त विपक्ष व्यक्तियों की वृत्तिता का बाध अपेक्षित है ? अथवा सामान्यतः विपक्षवृत्तित्व का बाधक ? समस्त सम्भाविता-सम्भावित विपक्ष व्यक्तियों मे प्रकृत पक्ष मे भी साध्याभाव के होने पर हेतु के भावरूप अन्यथाभाव की बाधिका जो अर्थापत्ति मानी जायगी, उसी से ही पक्ष मे साध्य की सिद्धि पर्यवसित हो जाती है, अनुमान व्यर्थ हो जाता है।

(ब) "विपक्षवृत्तित्वबाधक-सहकृत सार्वत्रिक अन्वय", इस पक्ष मे विशेषण की क्या आवश्यकता ? केवल "सार्वत्रिक अन्वयों व्याप्ति" इतना ही क्यों नही कहा जाता ? इतना कहना भी सगत नही।

(स) सामान्यत विपक्षवृत्तित्व-बाधक-सहकृत (अन्वय) पक्ष मे जिज्ञासा होती है कि बाधक प्रमाण विपक्ष की सामान्य वृत्तिता को विषय करता है ? अथवा विशेष वृत्तिता को ? प्रथम विकल्प के अनुसार पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व के अन्वय मे व्याप्तित्वापत्ति और द्वितीय विकल्प मे पूर्ववत् अनुमान की व्यर्थता पर्यवसित होती है।

(द) विपक्षबाधकावगमित केवल सार्वत्रिक अन्वय, के अनुसार "यद्धूमवत्, तदग्निमत्" इस प्रकार के अन्वय मे सार्वत्रिकत्व का तात्पर्य यह है कि सभी धूम व्यक्तियों मे सभी अग्नि व्यक्तियों का सम्बन्धित्व, वह यदि- व्याप्ति-ग्रह-काल मे ही गृहीत हो जाता है, जब धूमवत् पक्ष व्यक्ति मे भी अग्निमत्व पहले से ही गृहीत हो जाता है, उसी का स्मरण कर लेने मात्र से कार्य सम्पन्न हो जाता है, अनुमान व्यर्थ है।

शका सामान्यतः पक्ष मे भी अग्निमत्त्व का ज्ञान होने पर भी विशेषत अग्निमत्व गृहीत नही, उसी का अनुमान किया जाता है, अत अनुमान व्यर्थ नही है ।

समाधान जैसे किसी वस्तु के पूर्वानुभव-जनित सस्कारों से सहकृत चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा ही निश्चीयमान देश, कालादि विशेषवास्था सम्पन्न देवदत्तादि पदार्थो की "सोऽयम्" इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा मानी जाती है, वैसे ही प्रकृत मे भी "तादृशाग्निमान्सोऽयम् पर्वत " इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान चक्षुरादि से ही सम्पन्न हो जाता है, अनुमान निरर्थक है ।

(3) स्वाभाविक- सम्बन्धो व्याप्ति [26] -

शका दो पदार्थो का सम्बन्ध कहीं स्वाभाविक होता है और कही अस्वाभाविक या औपाधिक, जैसे उष्ण स्पर्श का सबध अग्नि में स्वाभाविक और जल मे औपाधिक होता है । धूम का अग्नि से स्वाभाविक और अग्नि का धूम से औपाधिक सबध है, अतएव धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान होता है, अग्नि से धूम का नही ।

समाधान वहाँ यह पूछा जा सकता है कि - 'कस्य सबंध स्वाभाविक? अर्थात् (1) द्वयो सम्बन्धिनो स्वाभाविक सम्बन्ध ? अथवा (2) असम्बन्धिनो स्वाभाविक सम्बन्ध ?

द्वितीय विकल्प में व्याघात होता है, क्योंकि जो पदार्थ सबंध रहित होते है, उनका सम्बन्ध ही कैसे होगा ? प्रथम विकल्प में प्रश्न होता है कि "स्वाभाविक" शब्द का अर्थ क्या ? (1) सबंधिस्वाभावाश्रित ? या (2) सम्बन्धिस्वभावजन्य ? या (3) सबंधित्वेन विवक्षित पदार्थो के स्वभाव से अनतिरिक्त ? या (4) सबंधिस्वभाव-व्याप्य ? या (5) सबंधिस्वभाव से भिन्न पदार्थ के द्वारा अप्रयुक्त ? अथवा (6) अन्य ही कोई पदार्थ विवक्षित है ?

(1) सबंधिस्वभाव के आश्रित तो पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व का भी सबध होता है, अत उनके अन्वय मे व्याप्ति का लक्षण अतिप्रसक्त होता है ।

---

26 ख ख खा , चौखम्बा, विद्या भवन, पृष्ठ 397-

(2) द्वितीय विकल्प के अनुसार रस्सी और घडे के सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि वह भी सबंधिस्वभाव से जनित है। व्याप्ति रूप संबंध सर्वत्र जन्य ही नहीं, नित्य भी होता है, जैसे पृथिवीत्व और द्रव्यत्व का एकार्थ समवायरूप संबंध भी व्याप्ति माना जाता है, किन्तु उसमे सबंधिस्वभाव-जन्यत्व नहीं माना जाता, अत उसमें अव्याप्ति भी हो जाती है।

(3) तृतीय विकल्प के अनुसार भी अव्याप्ति ओर अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि धूम और अग्नि का समानाधिकरण्यरूप संबंध संबंधिस्वभाव से अनतिरिक्त नहीं, अतिरिक्त ही माना जाता है।

(4) चतुर्थ विकल्प के अनुसार अन्योऽन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि व्याप्यत्व को व्याप्ति और व्याप्ति को यहाँ व्याप्यत्व की अपेक्षा होती है।

(5) पाँचवे विकल्प मे "प्रयुक्त" शब्द का अर्थ यदि "जन्य" करके "नप्रयुक्त " का अर्थ "नजन्य " - ऐसा अर्थ किया जाता है, तब अकृतक (नित्य) व्याप्तिरूप सबध के लिये "अन्येननप्रयुक्त " - ऐसा न कहकर केवल "अप्रयुक्त " कहना ही पर्याप्त है, क्योंकि नित्य पदार्थ किसी से भी जनित नहीं होता।

(6) उपरोक्त कथित विकल्पों से अतिरिक्त अन्य किसी लक्षण का निर्वचन सम्भव नहीं।

(4) अनौपाधिक. सम्बन्धो व्याप्ति.[27] -

उपाधि रहित सम्बन्ध व्याप्ति है। जो इस प्रकार कहते हैं उनसे पूछना चाहिए कि वह उपाधि क्या वस्तु है, जिससे शून्य को आप व्याप्ति कहते हैं? साथ ही लोहलेखत्व का पर्थिवत्व में एकार्थसमवाय रूप सम्बन्ध भी व्याप्ति हो जायगा, कारण समवाय सम्बन्धी का स्वरूप है।

---

27. खण्डन चौ विद्या. पृष्ठ 399.

समर्थन जो साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक हो वह उपाधि है । ऐसा लक्षण करेगे । यह उदयनाचार्य के व्यतिरेकमुख से कथित लक्षण-वाक्य का फलितार्थ है । आचार्य के लक्षण-वाक्य का अक्षरार्थ तो यह है कि साधन और उपाधित्व से अभिमत - दोनों के मध्य जिसका अभाव साध्याभाव का व्याप्य हो, वह उपाधि है । वह्नि से धूम के अनुमितिस्थल मे आर्दन्धनसयोग की उपाधि संज्ञा है । जैसे स्फटिक में जपाकुसुम के रक्तत्व के भान के निमित्त जपाकुसुम को उपाधि कहते हैं । वैसे ही आद्रेन्धनसयोगनिष्ठ धूम की व्याप्ति के बह्नि मे भान के निमित्त आर्द्रेन्धसंयोग को भी उपाधि कहते है ।

खण्डन साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक "पक्षेतरत्व" भी उपाधि हो जायगा । "पक्षेतरत्व उपाधि ही है" यह आप नहीं कह सकते, कारण पक्षेतरत्वरूप उपाधि का सर्वत्र सम्भव होने से अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा ।

समर्थन उपाधि के लक्षण मे "पक्षेन्तरत्व से भिन्न हो" ऐसा निवेश करने पर पक्षेतरत्व उपाधि न कहलायेगी ।

खण्डन . ऐसा निवेश करने पर "बह्नि अनुष्ण कृतकत्वात्" इस अनुमान मे बह्नीतरत्व उपाधि न कहलायेगी । यहाँ बाध ही दोष है, उपाधि नहीं, यह नहीं कह सकते । कारण यदि व्यभिचार न हो, तो हेतुमत पक्ष में बाध ही अप्रमाणित सिद्ध होता है । यह भी कहा है कि बाध से अथवा व्यभिचार से उपाधि की अनुमिति होती है, इसमें कोई विशेष नहीं है ।

समर्थन "उपाधि-लक्षणघटक बाधोन्नति पक्षेतरत्व से अतिरिक्त पक्षेतरत्वभिन्नत्व" का निवेश करने पर कोई दोष नहीं होगा ।

खण्डन . तब भी जब तक साधन में उपाधि की व्याप्ति का ज्ञान न हो, तब तक साधन के अव्यापकत्व का ज्ञान न होने से अन्योन्याश्रय आदि दोष हो जायेंगे । इसी प्रकार साध्य में उपाधि की व्याप्ति की अज्ञानदशा में साध्यव्यापकत्व का ज्ञान भी नहीं हो सकता ।

समर्थन . "साध्य में जिसका व्यभिचार अदृष्ट हो, वह साध्यव्यापक है ।"

खण्डन यह कथन भी युक्त नहीं, कारण वस्तुत जिससे साध्य व्यभिचारी है, वह भी आपातत अव्यभिचारी साध्यस्वरूप से ज्ञात हो सकता है। और इस प्रकार वह भी उपाधि हो जायगी। यदि कहें कि "अन्य काल में भी साध्य जिससेअदृष्ट व्यभिचार हो, वह साध्यव्यापक है" तो अग्नि से धूम के साधन स्थल मे आर्द्रेन्धन-संयोग भी उपाधि न होगी। कारण आन्र्द्रेन्धन संयोग मे धूमत्व साध्य का व्यभिचार नही देखा जायगा, इसमे कोई प्रमाण नहीं है।

समर्थन साध्यत्व सिद्धिविषयत्व नही, किन्तु व्याप्ति कर्तृत्व (साध्य का व्यापकत्व) ही है।

खण्डन यह भी नहीं कह सकते, कारण अंत तक व्याप्ति का ज्ञान न हो तब तक व्यापकत्व का ज्ञान भी अशक्य है।

समर्थन "साध्यव्यापक" ही युक्त है, कारण व्याप्ति ग्रहकाल में साध्यत्व का अभाव होने पर भी साधन-योग्यता तो है ही। हम साध्यत्व सिद्धिविषयत्व नहीं, किन्तु तद्योग्यता ही मानते है, जो यावद्द्रव्यभावी है।

खण्डन यह कथन भी युक्त नहीं। कारण व्याप्ति के अज्ञान-काल में यह कैसे जाना जायगा कि यह साधन योग्य है और यह साधन योग्य नहीं है। व्यापकत्व से साध्य का निश्चय नहीं हो सकता है, अर्थात् व्याप्यव्यापकभाव धूम-वह्नि का साध्य-साधनभाव नहीं कहा जा सकता है। कारण जब तक व्याप्ति का लक्षण न हो तब तक यह त्याज्य है और यह व्यापक - यह निश्चय कैसे होगा?

समर्थन जिस उपाधि के साध्यव्यापकत्व और साधनाव्यापकत्व मे प्रमाण हो, वह निश्चित उपाधि है और जिस उपाधि के उक्त उभय रूपों में प्रमाण न हो, उसे हम शंकित उपाधि ही मानेंगे।

खण्डन "मैत्रतनय शाकाद्याहार - परिणतिपरम्परावान्मैत्रतनयत्वात्" इस प्रकार मैत्रतनयत्वरूप हेतु से ही मैत्रतनय में शाकाद्याहार परिणतिपरम्परारूप उपाधि की अनुमिति होने से साधनाव्यापकत्व की शंका का उच्छेद हो सकता है।

समर्थन मैत्रतनयत्व से श्यामत्व के साधन में शाकपाकजत्व उपाधि है तथा शाकपाकजत्व के साधन मे श्यामत्व उपाधि है । अत उपाधि का अनुमान न हो सकने से उपाधि में साधनाव्यापकत्व युक्त ही है ।

खण्डन . दोनों का एक काल मे ही मैत्रतनयत्व से साध्य होने से शाकपाकजत्व मे साधन-व्यापकत्व है ही, अत साधनाव्यापकत्व की शका हो ही नहीं सकती। ऐसे स्थलों मे यदि एक साध्य की सिद्धि में अन्य उपाधि दे तो क्षिति में कार्यत्व से सकर्तकत्व के साधन मे "अदृष्टजत्वं" तथा अदृष्टजल के साधन मे "सकर्तृकत्व" भी उपाधि होने से दोनों की असिद्धि हो जायेगी।

"साध्य तथा साधन के सम्बन्ध का व्यापक तथा साधन का अव्यापक उपाधि है" यह लक्षण भी युक्त नहीं है । कारण व्याप्ति, साध्य और साधन के निर्वचन के बिना इस लक्षण की निरुक्ति ही नहीं हो सकती है । व्याप्ति की घटक उपाधि के निर्वचनकाल मे इनका निर्वचन ही नहीं है ।

अस्तु व्याप्ति कुछ भी हो, किन्तु उसके होने पर ही अनुमिति होती है । अत अनुमिति के व्याप्तिजन्य होने तथा जन्यत्व के व्याप्तिघटित होने से व्याप्ति की व्याप्ति अनुमिति में अवश्य माननी होगी । वह यदि वही व्याप्ति हो, तो आत्माश्रय है । यदि भिन्न मानें तो उस व्याप्ति की अनुमिति में भी अन्य व्याप्ति, इस प्रकार अनवस्था, अनेक व्याप्तियाँ होने से अननुगम तथा कौन सी व्याप्ति अनुमिति का अंग है, इसमें विनिगमक का अभाव हो जायगा ।

पक्षता - लक्षण का खण्डन

व्याप्ति और पक्षधर्मता - ये दोनों मिलकर अनुमिति को जन्म देते हैं । इस प्रकार तार्किकगण कहते हैं । श्री उदयनाचार्य कहते हैं - "व्याप्तिपक्षधर्मता ज्ञाने हि अनुमित्युपयोगिनी" (ता.परि. पृ. 572) ।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि पक्ष पदार्थ क्या है, जिसकी धर्मता (वृत्तिता) को पक्षधर्मता कहा जाता है?

(क) जिस धर्मी में साध्यरूप धर्म सिषाधयिषा हो वह पक्ष है।[28]

(ख) हेतु का विषय साध्यरूप धर्म जिस धर्मी से अज्ञात हो वह पक्ष है।[29]

(ग) जहाँ साध्य का संदेह हो, वह पक्ष है।[30]

(क) जिस धर्मी में साध्यरूप धर्म की सिषाधयिषा हो, वह पक्ष है।

इस लक्षण मे "सिषाधयिषा" शब्द का अर्थ क्या है? (1) दूसरे का बोध कराने की इच्छा है, अथवा (2) स्वयं जानने की इच्छा। प्रथम विकल्प के अनुसार स्वार्थानुमान का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि स्वार्थानुमान स्वयं अपने ज्ञान के लिये किया जाता है, दूसरों के बोध कराने के लिए नहीं। द्वितीय विकल्प के अनुसार भी स्वार्थानुमान - विशेष में अव्याप्ति होती है, क्योंकि सड़े हुए दुर्गन्ध युक्त रस की जिज्ञासा किसी को नहीं होती है। अत ऐसे स्वार्थानुमानों मे प्रतिपित्सितधर्मविशिष्ट पक्ष की असिद्धि हो जाती है।

(ख) हेतु का विषय (व्यापक) साध्यरूप धर्म जिस धर्मी में, अज्ञात हो वह पक्ष है।

यह लक्षण भी युक्त नही, कारण किसे अज्ञात कहेंगे? यदि न्याय प्रयोक्ता द्वारा अज्ञात कहें तो परार्थानुमान मे अनुमान प्रयोक्ता द्वारा पर्वत मे वह्नि ज्ञात ही होने से वह पक्ष न कहलायेगा। स्वयं बिना जाने दूसरे के लिए प्रयोग नहीं हो सकता। यदि प्रतिवादी द्वारा अज्ञात कहें, तो भी उचित नही है। कारण प्रतिवादी द्वारा साध्य के सात होने पर भी परस्पर विद्योत्कर्ष के बाधनार्थ प्रतिवादी अनुमान का प्रयोग करते ही है।

---

28. सिषाधयिषितधर्मा धर्मीपक्ष·। ख.ख.खा, पृष्ठ 416, चौखम्बा, विद्याभवन.

29 अनवधारितधर्मा धर्मीपक्ष.। वही, पृष्ठ 417

30 संदिग्धसाध्य धर्मी पक्षः। वहीं पृष्ठ 419.

(ग) जहाँ साध्य का संदेह हो, वह पक्ष है ।

यह लक्षण भी उचित नहीं है । क्योंकि "अनवधारित" और "संदिग्ध" पर्यायवाची ठहरते हैं, अत अनवधारणपक्षीय दोषों से ही "सन्द्रिग्धसाध्यधर्मा धर्मी पक्ष." इस लक्षण का भी निराकरण हो जाता है ।

पक्षधर्मता - लक्षण का खण्डन

पक्ष पदार्थ यदि कुछ मान भी लिया जाय, तब भी जिज्ञासा होती है कि यह - "पक्षधर्मता" क्या है ? पक्षधर्मता के लक्षण निम्न हैं -

(अ) पक्ष मे आश्रिततत्व ही पक्षधर्मता है ।[31]

(ब) व्याप्य की विशेषशक्ति का नाम पक्षधर्मता है ।[32]

(अ) पक्ष में आश्रितत्व ही पक्षधर्मता है ।

यह लक्षण भी उचित नहीं है, क्योंकि नैयायिक विषय विषयी भावरूप प्रमेयत्व को ज्ञेय और ज्ञान के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं मानते हैं । पक्षरूप ज्ञेय, ज्ञान प्रमेय के आश्रित नहीं, आत्मादि आश्रित है ।

(ब) व्याप्य की विशेष शक्ति का नाम पक्षधर्मता है ।

यदि इस तरह कहा जाता है तो यह लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योंकि सामान्य विषयक प्रतीति विशेष की प्रतीति के बिना अनुपपन्न ही नहीं है, क्योंकि जैसे "जो जो धूमवान है, वह वह वह्निमान है" यह सामान्य विषयक व्याप्तिज्ञान विशेष की प्रतीति के बिना ही होता है । इसी तरह अनुमिति की विशेष की, प्रतीति के बिना ही होगी । यदि विशेष की प्रतीति के बिना सामान्य की प्रतीति को अनुपपन्न मानें तो व्याप्ति की प्रतीति भी विशेषविषयक

---

31 पक्षाश्रितता पक्षधर्मता । ख ख.खा., पृष्ठ 420, चौ. विद्या.

32 व्याप्यस्य सामर्थ्यं पक्षधर्मत्वम् । वही

हो जायगी। और कुछ विशेषों का अनुप्रवेश हो तो अननुगम होगा और अशेष विशेषों का प्रवेश होने पर सर्वज्ञतापत्ति या अनुमानोच्छेद हो जायगा, क्योंकि व्याप्तिग्रह से ही सभी विशेष सिद्ध होंगे।

दूसरी बात यह है कि यदि पक्षधर्मता के द्वारा विशेषत. साध्य व्यक्ति का भान माना जाता है तब जहाँ पर शब्द के द्वारा किसी व्यवहित व्यक्ति का अनुमान किया गया और बाहर निकल कर दो व्यक्ति सामने आते है, तब उनमें से जो सन्देह होता है कि जिस व्यक्ति का शब्द सुनाई दे रहा था, वह इन दोनों में कौन है ? यह सदेह नहीं होना चाहिए, क्योंकि अनुमिति ज्ञान से ही वह विशेष व्यक्ति आलोकित हो चुका है, जिसका शब्द बाहर सुनाई देता था, यदि कहा जाय कि अनुमिति व्यक्ति विशेष होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न होने के कारण संशय हो जाता है, तो वैसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि पश्चात् सामने आने पर तो उस व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, तब संशय क्यों होता रहता है ? अत. सामान्य ज्ञान को विशेष विषय में उपसंगृहीय करने वाली शक्ति को पक्षधर्मता कहना सर्वथा असगत है।

उपमान प्रमाण का खण्डन

श्री हर्ष कहते हैं उपमान भी क्या है ? अर्थात् लक्षण न होने से वह भी अनिर्वचनीय ही है।

उपमान के लक्षण निम्नवत् हैं -

(अ) सादृश्य का ज्ञान उपमान है।[33]

(ब) प्रतीयमान के अप्रतीयमान में सादृश्य की प्रमिति उपमिति है और उसका कारण उपमान है।[34]

(स) जिस शब्द का संकेत अस्मृत हो, उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसंधान उपमान है।[35]

---

33 सादृश्यज्ञानमुपमानम्। ख.ख खा., पृ. 422, चौ. विद्या

34 अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन सह सादृश्यप्रमितिरुपमानम्। वही, पृष्ठ 425.

35 अनवगतसंगति - संज्ञासमभिव्याहृत वाक्यर्थस्य संज्ञिन्यनुसन्धान समुपमानम्। ख.ख खा., पृष्ठ 291, अच्युत.

(अ) सादृश्य का ज्ञान उपमान है।

कुछ विद्वान ऐसा उपमान का लक्षण करते हैं, किन्तु यदि ऐसा माने तो स्मरणात्मक सादृश्य-ज्ञान मे उक्त लक्षण अतिव्याप्त हो रहा है। सादृश्य का स्मरण ज्ञानप्रमा न होने के कारण उपमिति प्रमा नही हो सकता एवं उपमितिरूप प्रमा का कारण (उपमान प्रमरण) भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके अनन्तर कोई प्रमा उत्पन्न ही नहीं होती है। इसी प्रकार सादृश्य विषयक सशय और विपर्यय मे भी अतिव्याप्ति होती है।

स्मरण, संशय और विपर्यय में अतिव्याप्ति न हो, अत ज्ञानपद के स्थान पर "अनुभव" पद का प्रयोग करने पर - "सादृश्यानुभव उपमानम्" ऐसा लक्षण सम्पन्न होता है, वह भी "सदृशौ इमौ" - इस प्रकार के ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष में अतिप्रसक्त होता है। इतना ही नहीं "सोऽपिगवय ", गोसदृश , गवयत्वाद्, गवयान्तरवत्, इस प्रकार के अनुमान एवं आप्तवाक्यजन्य सादृश्य विषयक शाब्द ज्ञान मे भी उक्त लक्षण अतिव्याप्त है।

(ब) प्रतीयमान (गवय) के अप्रतीयमान (गौ) में सादृश्य की, प्रमिति उपमिति है और उसका करण उपमान है।

यह लक्षण मीमांसक स्वीकारते हैं। यदि ऐसा माना जाय तब तो "त्वदीया गौ अनेन गवयेन सदृशी" इस आप्तवाक्य से उत्पन्न सादृश्य की प्रमिति भी उपमिति कही जाने लगेगी।

समर्थन जहाँ इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी न हो, ऐसी उक्त, प्रमिति उपमान है।

खण्डन . जहाँ प्रत्यक्ष से गो तथा गवय के सादृश्य की प्रतीति के अनन्तर "साऽपि गौ. गवयेन सदृशी, गोत्वाद् इयमिव" ऐसी अनुमिति होती है, उसमें उपमानत्व का प्रसंग हो जायगा।

समर्थन . "लिंग से भी अजन्य उक्त प्रमिति उपमान है" ऐसा कहेंगे।

खण्डन तब तो "प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से जो अजन्य हो यह अर्थ हुआ। साथ ही प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द से अजन्य ज्ञान उपमान है" इतना ही लक्षण युक्त है। "अप्रतीयमानस्य प्रतीयमानेन" इत्यादि विशेष दल व्यर्थ हो जायगा।

निर्वचन नैयायिक कहते हैं कि जिस शब्द का संकेत अज्ञात हो, उस शब्द से युक्त वाक्य के अर्थ का शब्द मे अनुसधान उपमान है।

खण्डन यह लक्षण भी युक्त नहीं है, कारण जिस शब्द का संकेत प्रथम तो अवगत हो और पश्चात् विस्मृत हो गया हो, उस शब्द से समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में उपसंहार भी सिद्धान्तत उपमान है, किन्तु वहाँ संकेत ज्ञान पहले हो जाने के कारण उक्त लक्षण न जाने से अव्याप्ति हो जायगी।

(स) जिस शब्द का संकेत अस्मृत हो, उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसंधान उपमान है। इस लक्षण के समर्थक उदयनाचार्य हैं।

यह लक्षण भी उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ प्रथम तो सकेत अनुभूत हुआ, पश्चात् स्मृत होकर पुन. कालवश विस्मृत हुआ हो, वहाँ भी शब्द में उक्त वाक्यार्थ का अनुसंधान उपमान ही है, किन्तु संकेत मे स्मृतिविषयत्व ही है, उसका अभाव नहीं। अत वहाँ उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी।

समर्थन अस्मर्यमाण (वर्तमान स्मरण का अविषय) है, संकेत जिस शब्द का उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द में अनुसधान उपमान है, उक्त स्थल में वर्तमान स्मरण नहीं, अत अव्याप्ति नहीं है।

खण्डन . वर्तमान स्मरण का विषयत्व उक्त स्थल में भी है, अत. वह अव्याप्ति तदवस्थ ही है। सर्वदा वर्तमान स्मरण विषयत्व का अभाव कहीं भी नहीं है, कारण स्मृति क्षणिक होने से सर्वदा वह वर्तमान नहीं रहती। अत. अलीकप्रतियोगिक होने से उक्त अभाव प्रसिद्ध न होने के कारण असम्भव हो जायगा।

अन्य विकल्प यदि कहे कि 'जिस प्रमाता से जिस सज्ञा का संकेत अनवगत है, उससे समभिव्याहृत वाक्यार्थ का शब्द मे अनुसन्धान उस प्रमाता के लिए उस शब्द के विषय में उपमान है" तो यत्-तत् शब्द के व्यक्तिपरक होने से जिस व्यक्ति का यत्-शब्द से ग्रहण करेगे, उससे अन्य व्यक्ति मे अव्याप्ति हो जायगी। साथ ही लक्षण में शब्द पद का निवेश भी सदोष ही है। देखिए - जिस पुरूष ने "गोसदृशो गवय प्रायो महति कानने दृश्यते" इस वाक्य को जिसने सुना हो, और कानन पद की सगति (शक्तिरूप सम्बन्ध) को नहीं जानता हो, केवल गवयपद की शक्ति को जानता हो तो उसको संज्ञा सज्ञी के सबंध की प्रतिपत्ति (ज्ञान) रूप फल वाली ऐसी उपमिति के सदृश प्रतिपत्ति (अनुमिति) होती है (इदं कानने गवयाधारत्वात्) यह वन है, क्योंकि गवय का आश्रय है। उक्त वाक्य मे प्राय पद बाहुल्य वाचक है, वह वाक्य को व्याप्तिपरक कर देता है, और कानन सज्ञा को सज्ञी के सबध बोध से इसमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। यदि कहा जाय कि प्राय पद के अभाव काल मे अनुमिति और उपमिति दोनों की अभाव दशा में कानन पद की शक्ति कैसे ज्ञात होगी, तो इसका उत्तर यह है कि अन्यत्र (गोसदृशो गवय) इस वाक्य के समान, कानन, संज्ञा संज्ञी के संबंध ज्ञान मे भी (इह प्रभिन्न कमलोदरे मधूनि मधुकर पिबति) इस खिले हुए कमल मध्य मे मधु को मधुकर पीता है, इस वाक्य मे मधुकर शब्द के अर्थ को नहीं जानने वाला भी कमल में मधु पीते हुए भँवर को देखकर मधुकर पद की शक्ति समझ जाता है। वैसे ही यहाँ प्रसिद्ध अर्थ वाले अन्यगवयमहति आदि पद के साथ संबंध से उत्पन्न अन्यथा अनुपपत्ति को कानन की शक्ति-ज्ञान के लिए प्रमाणत्व है, उपमान को नहीं। अर्थात् दृष्टा समझता है कि यदि कानन पद का यहाँ वन अर्थ नहीं हो तो इन पदों के साथ इसका कथन असंगत होगा फिर उसको वन वाचक समझ जाता है। यदि इन दोषों को हटाने के लिए कहा जाय कि उपमेय संज्ञासहित वाक्यार्थ का संज्ञी में अवधारणा उपमान है, तो उपमिति के निरूपण के बिना तदयुक्त उपमेय के अनिरूपण से इसका भी खण्डन हो जाता है।

4. शब्द प्रमाण के लक्षण का खण्डन

श्री हर्ष प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाणों के लक्षणों का खण्डन करके उन्हें अनिर्वचनीय सिद्ध करके कहते हैं, प्रमाणभूत शब्द की क्या वस्तु है? शब्द प्रमाण का भी लक्षण न होने के कारण वह भी निरस्त है। अनिर्वचनीय है।

शब्द प्रमाण के प्रमुख दो लक्षण -

(अ) आप्तवाक्य ही शब्द प्रमाण है।[36]
(ब) यथार्थ वाक्य शब्द प्रमाण है।[37]

(अ) **"आप्त का वाक्य ही प्रमाण शब्द"** है तो यह उचित नहीं, क्योंकि आप्त कौन है?

(1) **जैसा देखा हो, वैसा ही कहने वाला आप्त है।** यह लक्षण ठीक नही, क्योंकि शुक्ति को रजत रूप से देखकर जो शुक्ति को रजत कहने वाला अथवा आत्मा और शरीर को एक समझ कर शरीर को आत्मा कहने वाला आप्त कहा जायेगा। क्योंकि जैसे उसने देखा है, वैसा कहा है।

(2) **प्रमाण से जो दृष्ट हो, कहने वाला आप्त है।** प्रत्यक्ष प्रमाण से दृष्ट शुक्ति को इस समय रजत कहने वाला आप्त हो जायेगा, जो अनुचित है, क्योंकि वास्तव में वह गलत कह रहा है।

(3) **प्रमाण से जेसा देखा हो, वैसा ही कहने वाला आप्त है।** यह भी उचित नही, क्योंकि दो रग को देखकर कोई कहे ये दोनों एक रंग है और रजत है तो यहाँ अति व्याप्ति हो जायेगी।

(4) **जितने पदार्थ जिस जिस रूप से दृष्ट हों, उनको उसी रूप से कहना आप्त है।** यह लक्षण भी उचित नहीं है, क्योंकि जिस जिस रूप से वस्तु का ज्ञान होता है, उन सभी रूपों से वस्तु का एक साथ कथन हो ही नहीं सकता।

(5) **जैसा प्रमित (प्रमाण से ज्ञात) हो वैसे ही उसी को जो कहे अप्रमिति हो, कदापि न कहें, ऐसे वक्ता का वाक्य प्रमाण होता है, वही आप्त है।** श्री हर्ष लक्षण का निराकरण करते हुये कहते हैं कि संसार में आप्त रूप से प्रसिद्ध युधिष्ठिर के वाक्य मे भी अव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि उन्होंने "अश्वत्थामा हतो नरो व कुन्जरो" अप्रमित वाक्य कहा था।

---

36 आप्तवाक्यं शब्द· प्रमाणम्। ख.ख.खा., पृष्ठ 297, अच्युत
37. यथार्थवाक्यं शब्द. प्रमाणम्। वही, पृष्ठ 299.

(6) **निर्दोष व्यक्ति आप्त है और उसका वाक्य प्रमाण शब्द है।** यह भी ठीक नहीं, क्योंकि निर्दोष शब्द का अर्थ सब दोषों से रहित माना जाय तो युधिष्ठिर भी ऐसे नही है। यदि कुछ थोडे दोष के अभाव से विशिष्ट को निर्दोष शब्दार्थ मानें तो लक्षण सर्वलक्ष्य साधारण न होने से अनुगमन हो जायेगा।

(ब) **"यथार्थ वाक्य शब्द प्रमाण है"।** श्री हर्ष आप्त वाक्य ही शब्द प्रमाण है, का खण्डन करने के पश्चात् अन्य विकल्प यथार्थ वाक्य ही शब्द प्रमाण है, का खण्डन करते हुए इसमे तीन दोष दिखलाते हैं।

(1) यथार्थानुभव प्रमा ठीक नहीं, क्योंकि जैसा अर्थ हो वैसा अनुभव हो, इसका सबध ठीक नही बैठता है। अर्थ वाह्य होता है और अनुभव आन्तरिक, अर्थात् यदि वाक्य में अर्थ सादृश्य प्रमेयत्वरूप से ग्रहण करे तो आभास वाक्य में अति व्याप्ति हो जायेगी।

(2) **यथार्थ वाक्य न कहकर यथार्थजनक वाक्य प्रमाण है।** इस लक्षण में अर्थ के ज्ञान के सादृश्य को यत्किंचित रूप से माना जाय तो प्रमेयत्वादि यत्किंचित रूप से भ्रमज्ञान को भी अर्क के साथ सादृश्य रहता है, उसमें अतिव्याप्ति होगी और उस ज्ञान का जनक वाक्य प्रमाण होगा और यदि प्रकाशमानस्वरूप से अर्थ के साथ ज्ञान का सादृश्य कहा जाय, तो "रूपवाला घट है" इत्यादि ज्ञान से प्रकाशमानरूपवत्त्व के ज्ञान में अभाव से सादृश्य असम्भव होगा।

(3) **वाक्यत्व का अनिर्वचन तृतीय दोष है।**

5. अर्थापत्तिः प्रमाण
(अर्थस्य आपत्तिः प्राप्तिर्ज्ञानं येन)

प्रत्यक्षादि से असिद्ध अर्थ का जिससे ज्ञान हो, वह अर्थापत्ति प्रमाण है और (अर्थस्यापत्तिः) उस असिद्ध अर्थ की आपत्ति (प्राप्ति ज्ञान) अर्थापत्ति नामक प्रमा (प्रमाण का फल) कही जाती है। "जीवीदेवदत्तो गृहे नास्ति" इस आप्त वाक्य से जीवित देवदत्त का घर

पर अनस्तित्व समझा जाता है। परन्तु देवदत्त की जीवित्व वहिस्सत्व के बिना अनुपपन्न है। अत. जीवितत्वान्यथानुपपत्ति से उसकी वहिस्सत्व की कल्पना की जाती है। यही जीवितत्वज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है और वहिस्सत्वज्ञान उसका फल है। दिन मे अभोजी के रात्रि भोजन के बिना पीनत्व (स्थूलत्व) की अनुपपत्ति का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण है, रात्रि भोजन का निश्चय फल है।

श्री हर्ष शब्द प्रमाण के खण्डन के बाद कहते है कि अर्थापत्ति भी क्या है?[38] अर्थात् लक्षण न होने से मीमांशक का अभिमत अर्थापत्ति प्रमाण भी अनिर्वचनीय है।

अर्थापत्ति प्रमाण के लक्षण खण्डन

(क) अन्यथा (बहि सत्व के बिना) जीवित देवदत्त के गृह में असत्त्व की अनुपपत्ति अर्थापत्ति प्रमाण है।[39]

इस लक्षण का खण्डन करते हुए श्री हर्ष कहते हैं कि जिस बहिसत्त्व के बिना अनुपपत्ति है, उसकी पहले से ही सिद्धि होने से आगे अर्थापत्ति प्रमाण की सिद्धि ही नहीं हो सकती है, अर्थात् बहि सत्त्वान्यथात्वरूप उपपादक का ज्ञान प्रतियोगिज्ञानाधीन होने से पहले बहि सत्त्व ज्ञात होना ही चाहिए, फिर तो बहि. सत्त्वरूप अर्थापत्ति का कोई प्रयोजन ही नही रहा।

समर्थन देवदत्त का बहि सत्त्व अर्थापत्ति का फल है और सामान्यत सिद्ध बहि सत्व के बिना अनुपपत्ति अर्थापत्ति करण है। अत सामान्यत बहि सत्त्व की प्रथम से सिद्धि होने पर भी कुछ हानि नहीं है।

खण्डन : यदि विशेषत. असिद्ध देवदत्तीय बहि. सत्त्व के व्यवच्छेदार्थ "सिद्धेन" यह विशेषण है, तो पूछा जा सकता है कि वह व्यवच्छेद्य प्रसिद्ध या नहीं। यदि हाँ तो फल पहले से ही सिद्ध होने से अर्थापत्ति व्यर्थ है। यदि वह प्रसिद्ध नही है तो

---

38 का पुनरर्थापत्तिरपि? खण्डन ख. खा., पृष्ठ 304, अच्युत.
39. अन्यथानुपत्ति । वही, पृष्ठ 305.

व्यवच्छेद्य का अभाव होने से ही उक्त विशेषण व्यर्थ है। यदि वह विशेषण न देकर अनुपपत्तिमात्र को अर्थापत्ति कहें तो फल के साथ विरोध हो जायेगा।

(ख) **प्रमाणों का परस्पर विरोध होना अनुपपत्ति या अर्थापत्ति है।**[40] ज्योति शास्त्र से "वर्षशतजीवी देवदत्त" ऐसा निश्चय होने पर "देवदत्त क्व चिदस्ति वर्षशतजीवित्वात्" यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान और "देवदत्त गृहे नास्ति" यह अनुपलब्धि दोनों प्रमाणों प्रमाणों का बहि सत्व कल्पना के बिना परस्पर विरोध होना अनुपपत्ति या अर्थापत्ति है, जो बहि सन्त्वरूप फल की कल्पना कर शान्त हो जाती है।

इस लक्षण के खण्डन में भी श्री हर्ष कहते है कि प्रमाणों मे परस्पर विरोध कहीं भी देखा नहीं गया है, अत. ऐसा लक्षण अयुक्त है।

यदि कहा जाय कि विरोधी प्रमाण रूप से अभिमतों का विरोध अर्थापत्ति है, यहाँ प्रत्यक्ष और सामान्यानुमान का विरोध है ही, तो यह कहना भी युक्त नहीं, पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अभिमत शब्द का क्या अर्थ है? भ्रम या यथार्थज्ञान या प्रमाण्याप्रामाण्य का जिसमे निर्णय नही हो, ऐसा ज्ञान विवक्षित है।

यहाँ अभिमत का यदि भ्रमज्ञान हो तो माला मे किसी को सर्प का किसी को दण्ड का भ्रम हो तो वहाँ भी विरोध की अनुपपत्ति अर्थापत्ति होकर उपपादक की कल्पना करेगी, अभिमत ज्ञानार्थक हो तो भी उक्तदोष (अतिव्याप्ति) की अनिवृत्ति है, अर्थात् ज्ञान को प्रमाण मानें तो प्रमाणों का विरोध नहीं हो सकता है और अप्रमाण या अनिर्णीत प्रमाण्याप्रामाण्य माने तो भी अतिव्याप्ति ही उक्त भ्रम स्थान में है। और अनिर्णीत प्रामाण्याप्रामाण्य पक्ष में वक्ष्यमाणरीति से भी अतिव्याप्ति है।

6. अनुपलब्धि - प्रमाण का खण्डन

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय 6 भाव पदार्थ माने गये हैं और अभाव सप्तम पदार्थ माना गया है। इसी प्रकार मीमांसक श्री भट्टपद

---

40 प्रमाणयोर्विरोधानुपपत्तिरर्थापत्तिः। ख.ख.खा, पृष्ठ 450, चौखम्बा.

के सिद्धान्त मे प्रत्यक्षादि पाँच भावरूप प्रमाण और अनुपलब्धिरूप छठवाँ प्रमाण माना गया है । यहाँ प्रत्यक्षादि भावरूप वस्तु के लिए प्रमाण होते हैं, कही अभाव के लिए भी अनुमानादि प्रमाण होते है । ये 6 प्रमाण वेदान्त परिभाषा आदि वेदान्त ग्रंथ में भी माने गये है । परन्तु यहाँ अनिर्वाच्यता समझाने के लिए लक्षणमात्र का खण्डन समझना चाहिए - लक्ष्य तो जो जैसा है, वैसा है ही। प्राणभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्यैान्याभाव अति प्रसिद्ध हैं और पचम सामयिकाभाव भी कोई मानते हैं । इन अभावों का ज्ञान प्राय ज्ञानाभावरूप अनुपलब्धि से होता है, वहाँ भी तब अनुपलब्धि से नहीं, किन्तु योग्यानुपलब्धि से होता है । अत योग्यानुपलब्धि का खण्डन यहाँ श्री हर्ष इस प्रकार करते हैं -

योग्यानुपलम्भ अभावप्रमा का कारण है ।[41] यह लक्षण युक्त नही, क्योंकि यदि उपलब्धि का प्रमात्मक ज्ञान अर्थ हो तो प्रमाणाभाव (प्रमाभाव) के तथा त्व (अभावमाणत्व) होने पर भ्रमज्ञान का अनुदय प्राप्त है, अर्थात् जहाँ शुक्ति के प्रज्ञाज्ञान के अभावरूप अनुपलब्धि प्रमाण की वर्तमानता से तथा सादृश्य दर्शन से रज की स्मृति होते भी रजत के प्रमा के अभाव से (नेदरजतम्)यह रजत नहीं है, ऐसा प्रमात्मक ज्ञान (रजताभाव का ही ज्ञान) होना चाहिए रजत का नही । यदि उपलब्धि से ज्ञानमात्र विवक्षित हो, तो यद्यपि वहाँ दोष नहीं है, क्योंकि भ्रमरूप रजत ज्ञान के रहने से ज्ञान का अभाव नहीं है, तथा जिस पुरूष ने प्रथम "श्वेतशख" का अनुभव किया है, पीछे पित्तदोष नेत्र में होने पर जहाँ पीतत्व का भ्रम होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस पहले के अनुभूत शंख की श्वेतता का स्मरण पीतता ज्ञान का विरोधी है ओर प्रथम शंख मे पीतता की अनुपलब्धि भी - "नायं पीत." यह पीत नहीं है, इस प्रमा ज्ञान का ही साधन है । यदि कहा जाय कि शंख में श्वेतता का ज्ञान तथा स्मरण प्रथम अपने समय में पीतभ्रम का प्रतिबन्धक हो सकता है, परन्तु उत्तरकाल में नेत्रगत दोषरूप पित्त से पीतिमा का स्मरण पूर्वक पीतभ्रम में कोई विरोध नहीं है, वस्तुतः नेत्र दोषगत पीतिमा अन्यथा ख्याति से शंख में भासता है । अत. पीतिमा की अनुपलब्धि नहीं है, जिससे नायं पीत., ऐसा ज्ञान हो । तथापि इन्द्रिय से संसृष्टि (सम्बद्ध) घटपट के अन्योन्याभाव को ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि घटपट के उपलम्भ ज्ञान होने से योग्यानुपलम्भरूप अभावप्रमा के कारण का वहाँ अभाव है ।

---

41. योग्यानुपलम्भोऽभावप्रमाकरणम् । खण्डन., चौ. विद्या., पृष्ठ 454

यदि कहे कि घटपटान्योन्याभाव के घटपट का तादात्म्य प्रतियोगी है और वह तादात्म्य अनुपलब्ध है, अत तादात्म्य की अनुपलब्धि अन्योन्याभाव के ज्ञान का कारण होता है, तो कहा जाता है कि घटपट का तादात्म्य तो कभी होता नहीं है। अत दोनों का अभेदरूप तादात्म्य तो प्रतियोगी हो नहीं सकता। फिर दोनों का स्वरूप मात्र, तादात्म्य को स्वरूप से भेद नहीं है, जो अज्ञात हो। यदि कहा जाय कि घटत्वादि रूप से घटादि के ज्ञान होने पर भी तादात्म्यरूप से ज्ञान नहीं रहता है, तो यह कहना भी नही बन सकता, क्योंकि अभाव ज्ञान मे प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। अत (घट घटात्मा न भवति) घटपट स्वरूप नहीं होता है, ऐसा भेद ज्ञान जहाँ होता है, वहाँ उसके प्रतियोगी तादात्म्य का अवश्य ज्ञान रहेगा। इसी प्रकार सर्वत्र अभाव ज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान के अवश्य वर्तमान रहने से अनुपलब्धि रूप अभाव ज्ञान का कारण कहीं नही हो सकता है।

शका केवल योग्यानुपलम्भ अभाव-प्रमा का कारण नहीं होता, अपितु प्रतियोगी और प्रतियोगीन्द्रिय-सन्निकर्ष के अभाव से युक्त योग्यानुपलम्भ अभाव - प्रमा का जनक माना जाता है। घट-प्रमा के पूर्व क्षण में घट और पट के साथ इन्द्रिय - सन्निकर्ष दोनों विद्यमान है। अत घटाभावप्रमा वहाँ क्योंकर होगी?

समाधान कारण-कोटि मे प्रतियोगिव्यतिरेक (प्रतियोगी के अभाव) का निवेश कर देने से ही प्रतियोगी के अविनाभाव का व्यतिरेक गतार्थ एव अन्यथा सिद्ध हो जाता है, अत उसे अभाव प्रमा का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि दण्ड-रूपादि के समान अन्यथासिद्धसन्निधि वाले पदार्थो को कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है, अतएव आलोक के प्रत्यक्ष में आलोकान्तर का सन्निकर्ष हेतु नहीं माना जाता। आलोक के प्रत्यक्ष में अन्यथा सिद्ध हो जाने के कारण आलोकान्तरवत्ता आलोकाभाव के प्रत्यक्ष में हेतु नहीं माना जाता।

घटादि के सन्निकर्ष में घटादि की अविनाभूतता (व्याप्तता) सम्भव भी नहीं, क्योंकि घट-सन्निकर्ष को व्याप्त (व्याप्य) और घट को व्यापक मानने पर एक ही घट में स्वत. व्यापकत्व और सन्निकर्ष-विशेषणविधया व्याप्यत्व मानना होगा जो कि संगत नहीं माना जाता, फलत "तत्तदविनाभूतसहितोऽनुपलम्भः प्रमाणम्" इस लक्षण में विशेषणासिद्धि दोष है।

शका योग्यता विशेषण का ग्रहण न करने पर जहाँ वस्तुत अभाव है, किन्तु अन्धकारादि में जो अभाव का निश्चय न होकर संशय होता है, वह क्योंकर उपपन्न होगा ? अन्धकारादि मे "यद्यत्र स्यादुपलभ्येत" - इस प्रकार की आरोपात्मक योग्यता न रहने के कारण अभाव का निश्चय नहीं होता।

समाधान तब जहाँ व्यवधायक पदार्थ विद्यमान हैं, वहाँ भी अभाव का सदेह ही होता है, निश्चय या प्रमात्मक ज्ञान नहीं, अत "योग्यता" विशेषण का ग्रहण करने पर भी वही अतिप्रसग समान है।

दूसरे यह कि योग्यतादि का निरूपण प्रमेय के माध्यम से ही होता है, किन्तु प्रमाण की कक्षा में प्रमेय का प्रवेश उचित नहीं होता, क्योंकि प्रमेय की सत्ता सिद्ध करने के लिए ही, प्रमाण की प्रवृत्ति मानी जाती है, अत एक ही प्रमेय अपनी साधनीभूत प्रमाण और फलभूत प्रमाकोटि में प्रविष्ट हो जाने के कारण उसमें युगपत् गुण-प्रधानभव प्रसक्त होता है, जो कि सर्वथा अनुचित है।

योग्यानुपलम्भ को इसलिए भी अभावप्रमा का कारण नहीं माना जा सकता कि जहाँ पर इस समय घट है, पहले उसका अभाव था, वहाँ जो पूर्वतन अभाव की प्रमा होती है, वह अनुपपन्न हो जाती है, क्योंकि इस समय वहाँ योग्यानुपलम्भ नहीं, प्रतियोगी की उपलब्धि ही हो रही है।

जो वस्तु सत् होती है, उसका निर्वचन भी होता है, निर्वचन उसी का नहीं होता, जो असत् है। कथित विशेषण - प्रयुक्त यदि कोई विशेषता आती है, तब अवश्य ही उसका निर्वचन होना चाहिए।

इसी प्रकार प्रमाण-विशेष का निर्वचन भी होना चाहिए। उसका निर्वचन नहीं किया जा सकता, अत उनकी सत्ता निर्विवाद नहीं हो सकती है।

उपसंहार

श्री हर्ष की खण्डनविधि को दो दृष्टियों से देखा गया है - प्रथम दृष्टि के अनुसार श्री हर्ष की खण्डविधि मात्र वितण्डा है और खण्डन खण्ड खाद्य वितण्डा का ग्रंथ है। वितण्डा का अभिप्राय है कि इसके प्रस्तावक का अपना कोई मत या वाद नहीं है और उसका प्रयोजन केवल अन्य सभी वादों का खण्डन करना है। न्याय दर्शन में वितण्डा सोलह पदार्थों मे एक पदार्थ है। केवल वितण्डा के प्रयोजन से लिखा गया एक मात्र ग्रंथ श्री हर्ष का खण्डनखण्डखाद्य है, इसलिए प्राचीन न्यायायिकों तथा नव्य-न्याय के दार्शनिकों ने खण्डनखण्डखाद्य के इस प्रकार्य को स्वीकार करते हुए इस पर टीकाये लिखी और इस ग्रंथ को न्याय दर्शन का ग्रथ माना।

यही नही इन टीकाकारों ने खण्डनखण्डखाद्य को एक सार्वपथीन ग्रंथ घोषित किया है। इसका तात्पर्य है कि खण्डनखण्ड खाद्य केवल न्याय दर्शन का ही नही, अपितु समस्त दर्शनों का मान्य ग्रथ है। स्वयं श्री हर्ष ने -

> शब्दार्थनिर्वचनखण्डनया नयन्त सर्वत्रनिर्वचन भावभरवर्वगर्वान्।
> धीरा यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा लोकेषु दिग्विजय कौतुकमातनुध्वम्।।[42]

अर्थात् खण्डनखण्डखाद्य को रटकर तोते की तरह इसका प्रयोग करते हुए किसी भी दार्शनिक के किसी भी पदार्थ का खण्डन किया जा सकता है और उसे इस विधि से परास्त किया जा सकता है।

अन्त में श्री हर्ष पुन. कहते हैं कि उनकी युक्तियों के समान अन्य युक्तियाँ भी निर्मित की जा सकती हैं। उनकी युक्तियों का प्रयोग अन्यत्र भी किया जा सकता है, जहाँ उन्होंने नहीं किया है, यदि खण्डनखण्डखाद्य की युक्तियों का किसी के द्वारा खण्डन किया जाय तो श्रृंखला शाखान्तर आरोहण न्याय से पुन. खण्डनखण्डखाद्य की युक्तियों का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् वादी की प्रतिज्ञा के किसी अंश पर के ऊपर खण्डन की युक्तियों का प्रयोग

---

42. खण्डनखण्डखाद्य - अच्युत., पृष्ठ 2.

करना चाहिए। इस प्रकार स्वयं श्री हर्ष ने अपनी खण्डन युक्तियों की तीन प्रकार्य (फंक्शन) बताये है। स्पष्ट है कि कोई भी दार्शनिक अपने विपक्षी को हस करने के लिए खण्डन युक्तियों का प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार स्वय श्री हर्ष का यह अभीष्ट है कि उनका ग्रथ खण्डनखण्डखाद्य एक सार्वगधीन ग्रथ है।

परन्तु ऐसा मान लेने पर उस परम्परा का विरोध होता है, जो मानती है कि खण्डनखण्डखाद्य अद्वैत वेदान्त का ग्रथ है। इस परम्परा के अनुसार खण्डनखण्डखाद्य मात्र वितण्डा का ग्रथ नहीं है, उसका एक नाम अनिर्वचनीयता सारसर्वस्व है। इसका तात्पर्य है कि खण्डनखण्डखाद्य के द्वारा श्री हर्ष ने अनिर्वचनीयतावाद को सिद्ध किया है। अपने ग्रंथ के आरम्भ में वे ईश्वर की वन्दना भी करते है और कहते है कि उसको अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है -

अविकल्पविषय एक त्थाणु पुरुष श्रुतोऽस्ति य श्रुतिषु।
ईश्वरमुमया न पर वन्देऽनुमयापि तमधिगतम्।।[43]

अत सिद्ध है कि श्री हर्ष की खण्डन विधि अन्ततोगत्वा ब्रह्मवाद को सिद्ध करती है, जिस प्रकार काण्ट ने तर्क बुद्धि का खण्डन इस प्रयोजन से किया कि परमात्मा मे श्रद्धा की जा सके। उसी प्रकार श्री हर्ष ने भी तर्क बुद्धि से समस्त प्रमाणों और प्रमेयों का खण्डन इस प्रयोजन से किया कि परमात्मा को लोग श्रद्धा से प्राप्त कर सकें। वे सत्तर्क अर्थात् श्रद्धामूलक तर्क या श्रुतिअनुग्रहीत तर्क के हिमायती हैं। अतएव वे वैतण्डिक नहीं है, अपितु एक वादी है, मूलत वे अद्वैतवादी है, उनकी खण्डन विधि केवल इतना सिद्ध करती है - परमतत्व का निर्वचन - शब्द द्वारा विधिवत् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह आनन्दस्वरूप है और अनुभवयिकगम्य है।

श्री हर्ष ने अपने खण्डन खण्ड खाद्य में प्रमाण और उसके प्रकारों का आलोचनात्मक विवेचन किया है। यह विषय अद्वैत वेदान्त के इतिहास में श्री हर्ष के पूर्व अनेक आपत्तियों और विरोधाभाषों से भरा हुआ था। अद्वैत वेदान्त एक ओर सभी प्रमाणों को भ्रामक

---

43. खण्डनखण्डखाद्य, अच्युत. पृष्ठ - 1.

मानता था तो एक ओर षट् प्रमाणों की प्रामाणिकता मे भी विश्वास करता था। एक ओर 6 प्रमाणों का खण्डन और दूसरी ओर 6 प्रमाणों का समर्थन, यह था विरोधाभास। इस विरोधाभास को शकराचार्य ने परमार्थ और व्यवहार मे द्विविध सत्य के आधार पर दूर किया था, उनका कहना था कि परमार्थत पारमार्थिक सत्ता को सिद्ध करने के लिये अथवा पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सभी प्रमाण अपर्याप्त हैं। किन्तु व्यावहारिक सत्ता को सिद्ध करने के लिये या व्यावहारिक सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सभी प्रमाण पर्याप्त है। शंकराचार्य के इस समाधान का आधार सुन्दर पाण्ड्य के निम्न लिखित श्लोक है, जिनको शकर ने चतु सूत्री के अत मे उद्धृत किया है -

"गौणमिथ्यात्मनोअसत्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधि कार्य कथ भवेत्।।
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वमात्मन ।
अन्विष्ट स्यात्प्रमातैव पाप्मदोषादि वर्जित ।।
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पित ।
लौकिक तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाआत्मनिश्चयात्।।"

(इति भाष्ये चतु सूत्री समाप्त)

स्पष्ट है कि इस समाधान का आधार एक नहीं है। इसके अनुसार जब तक परमार्थ का ज्ञान नहीं होता, तब तक सभी प्रमाण सत्य हैं, और जब परमार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब सभी प्रमाण मिथ्या हो जाते हैं। प्रश्न है कि परमार्थत. प्रमाण क्या है? और कितने प्रमाण परमार्थत सत्य है?

इन प्रश्नों का उत्तर शंकराचार्य के अनुसार एक नहीं है, बल्कि दो है। सर्वसिद्वान्त सग्रह के लेखक ने जो कदाचित् शंकराचार्य द्वारा स्थापित चार मठों मे से किसी मठ मे शकराचार्य की पदवी वाले कोई मठाधीश थे, ने पारमार्थिक प्रमाण और व्यावहारिक प्रमाण के विरोधाभास को एक दूसरे ढंग से दूर किया है। उनके मत से पारमार्थिक प्रमाण अशेष प्रमाण हैं और वह "तत्वमसि" आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान है। प्रत्यक्षादि 6 प्रमाण सशेष प्रमाण हैं, जो केवल व्यावहारिक हैं और जो आत्मा के विषय में प्रमाण नहीं हैं -

निवर्तमविद्यया इति वा मानलक्षणम् ।
सशेषाशेषभेदेन तदेव द्विविध मतम् ।। (84)

तत्वमस्यादिवाक्योत्थमशेषाज्ञानबाधकम् ।
प्रत्यक्षमनुमानाख्यमुपमानन्तथागम ।।(85)

अर्थापत्तिरभावश्च प्रमाणानि षडेव हि ।
व्यावहारिक नामानि भवन्त्येतानि नात्मनि ।। (86)

(सर्व सिद्धान्तसग्रह, वेदान्त पक्ष)

यह समाधान मूलत आदि शकर का ही समाधान है, किन्तु इसकी कुछ अपनी विशेषताये हैं । प्रथमत इसमें दोनों प्रमाणों की परिभाषा एक ही दी, प्रमाण वह है जो अविद्या का निवर्तक है । द्वितीयत पारमार्थिक प्रमाण को अशेष प्रमाण कहा गया, क्योंकि वह सम्पूर्ण अविद्या का नाश करता है ।

व्यावहारिक प्रमाण को सशेष कहा गया, क्योंकि अविद्या के अश विशेष का ही निवर्तक है ।

इस प्रकार व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रमाण दोनों की एकता और एकवाक्यता स्थापित की गई, किन्तु इस समाधान में जो आधार वह निषेध है । भावरूप से दोनों प्रकार के प्रमाणों का क्या महत्व है ? यह इस समाधान से नहीं स्पष्ट होता है । इसलिये प्रमाणों का विरोधाभास मूलत बना ही रहता है ।

श्री हर्ष ने इस विरोधाभास को अनिर्वचनीयता के तर्क से दूर किया, उनके मत से प्रमाण अनिर्वचनीयता को सिद्ध करता है । अनिर्वचनीयता का ज्ञान देता है और स्वयं अनिर्वचनीय भी है ।

सबसे पहले वे प्रमाण का ही विवेचन करते हैं और सिद्ध करते हैं कि प्रमाण अनिर्वचनीय है ।

प्रगाण का विवेचन

श्री हर्ष ने प्रमाणों का विशद विवेचन अपने खण्डन खण्ड खाद्य मे प्रस्तुत किया है। उनके मुख्य प्रतिद्वन्दी नैयायिक थे। न्याय दर्शन यथार्थवादी है। नैयायिक युक्ति का साधन तत्व-ज्ञान मानते हैं। न्याय का तत्व विचार उनके प्रमाण विचार पर ही आधारित हैं। श्री हर्ष के खण्डन का प्रयोजन यथार्थवाद का खण्डन करना है और अनिर्वचनीयतावाद की स्थापना करना है। जैसे पश्चिम के प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने यथार्थवाद के खण्डन द्वारा प्रत्ययवाद की स्थापना की है। वैसे ही श्री हर्ष यथार्थवाद के खण्डन द्वारा वेदान्त या अनिर्वचनीयतावाद की स्थापना की है।

प्रमाण के विषय में श्री हर्ष के दो मत हैं - निषेधात्मक तथा भावात्मक। निषेधात्मक मत के द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है कि प्रमाण अनिर्वचनीय है या प्रमाण अपरिभाषेय हैं, क्योंकि प्रमाण स्थिर नहीं है। उन्होंने अपने विरोधी नेयायिकों के सोलहों पदार्थों का विधिवत् खण्डन करके उनके एक एक सिद्धान्त के लक्षणों का खण्डन करके उन्हें पराजित किया। उनके द्वारा प्रस्तुत जगत और ब्रह्म के द्वैत को समाप्त किया।

श्री हर्ष का कथन है कि प्रमाण के लक्षणों का निर्वचन ही नहीं हो सकता, उनकी स्थिरता ही नहीं है, अत वे अनिर्वचनीय हैं, उनको सत् नहीं कहा जा सकता है। प्रमाणों पर ही सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता निर्भर है। सम्पूर्ण जागतिक पदार्थ मिथ्या हैं। अर्थ सत्ता खण्डित हो जाती है।

श्री हर्ष सम्पूर्ण प्रमाण लक्षणों का खण्डन कर देते हैं, जिसक फलस्वरूप प्रमाणों का निर्वचन ही नहीं हो सकता है। प्रमाणों से ही प्रमेयों की सिद्धि मानी जाती है। अत प्रमाणों के बाधित हो जाने पर प्रमेय भी बाधित हो जाते हैं। जिससे द्वैत मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जगत के मिथ्या हो जाने पर सम्पूर्ण जागतिक पदार्थ मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं।

जगत के मिथ्या सिद्ध हो जाने पर द्वैत समाप्त हो जाता है। केवल सच्चिदानांद ब्रह्म की ही सत्ता सिद्ध हो जाती है।

ब्रह्म के विषय में कोई प्रमाण नही है, क्योंकि प्रमाण स्वय अपने आप में कुछ है ही नही। उसकी अबाधित सत्ता ही नहीं। ब्रह्म तो स्वय अपने आप सिद्ध सत्ता है। श्रीहर्ष ब्रह्म के विषय में उसकी सिद्धि सब प्रमाणों का खण्डन करके ही करते हैं।

श्री हर्ष के खण्डन के प्रारम्भ में ही प्रमाणादि स्वीकार को कथा का अंग मानने की बात का खण्डन कर "लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धि." उनके इस सिद्धान्त पर अत्यन्त दृढता के साथ प्रहार किया। फिर लक्षणों की बात आगे कर बताया कि आप जितने सारे पदार्थ मानते हैं, उनके कोई निर्दिष्ट लक्ष्य ही नहीं बन पाते। स्वय प्रमाण और उनके भेदों का तथा लक्षण का ही जब लक्षण नहीं बन पाता तो औरों की तो बात ही करना व्यर्थ है। सम्पूर्ण जगत प्रपचमय है। उसकी सत्ता बाधित है।

जगत को प्रपंचात्मक सिद्ध करके श्री हर्ष ने अद्वैत ब्रह्म की स्थापना की। ब्रह्म ही परमार्थ सत् है। वह ही एक मात्र सत् सत्ता है। यहाँ श्री हर्ष कहते हैं कि मिथ्याभूत जगत का आश्रय सत् मानना ही पडेगा। सत् के बिना मिथ्यात्व की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है।

श्री हर्ष ने प्रमाणों के विषय में भावात्मक मत व्यक्त करते हुये कहा है कि प्रमाणादि के व्यावहारिक सत्ता तो है ही। उनको पूर्णत. अक्षत नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि व्यवहार मे सत देखे जाते हैं। उनकी भी अपनी सत्ता कुछ काल के लिये है। उनका बाध तभी होता है जब अज्ञान समाप्त हो जाता है। हम व्यवहार से उठकर एक मात्र ब्रह्मानन्द का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। तब व्यावहारिक सत्ता जगत की मिथ्या हो जाती है। और सब प्रमाण प्रमेयादि बाधित होकर मिथ्या दिखने लगते हैं।

श्री हर्ष व्यवहार में प्रमाणों की सत्ता स्वीकार करते हैं और सत् ब्रह्म के लिये श्रुति प्रमाण स्वयं भी देते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि श्री हर्ष का विचार प्रमाणों के विषय अत्यन्त सुष्पष्ट हैं। वे व्यावहारिक रूप से प्रमाणों की सत्ता तथा उनका लक्षण स्वीकार करते हैं। वे व्यवहार में आने वाले प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, तथा शब्दादि प्रमाणों को स्वीकार करते हैं, किन्तु पारमार्थिक अवस्था में इन सबका बाध हो जाता है। ज्ञान रूपी सूर्य के उदय

हो जाने पर अज्ञान रूपी अंधकार नष्ट हो जाता है । उसी तरह इनकी सत्ता बाधित हो जाती है । तब इनका निषेधात्मक स्वरूप हो जाता है ।

श्री हर्ष के ये दो मत सुन्दर पाण्ड्य और शंकराचार्य के ही मत हैं, किन्तु जब श्री हर्ष स्वप्रकाश का निरूपण करते हैं, तब उनके मत का वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है । वहाँ वे प्रमाण को स्वप्रकाश कहकर उसके भावरूप को प्रकट करते हैं । इस प्रकार श्री हर्ष के प्रमाण सम्बन्धी दोनों निष्कर्ष यों है -

(1) प्रमाण अनिर्वचनीय है ।

(2) प्रमाण स्वप्रकाश है ।

ये दोनों निष्कर्ष वास्तव में एक ही तथ्य के दो पहलू हैं, क्योंकि जो स्वप्रकाश है, वही अनिर्वचनीय है और जो अनिर्वचनीय है वह स्वप्रकाश है ।

--0--

अध्याय षष्ठम

ईश्वर सिद्धि का विमर्श

"एकमेवाद्वितीयम्"

छा. उप 6/2/1

श्री हर्ष तथा ईश्वर :

श्री हर्ष अद्वैतवादी होते हुये भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते है। श्री हर्ष आचार्य शकराचार्य की तरह दो सत्तायें स्वीकार करते हैं - पारमार्थिक सत्ता एवं व्यावहारिक सत्ता। श्री हर्ष कहते हैं कि हम प्रपच को नितान्त असत् नही कहते हैं। हमारा तो कथन केवल इतना है कि पारमार्थिक दृष्टि से भेद का बाध होता है। अत वह असत् है। व्यावहारिक दृष्टि से अविद्याजन्य प्रपंचात्मक भेद का अस्तित्व हमें मान्य है।[1] वे व्यवहार को असत् नहीं मानते हैं। व्यवहार मानव को जगत के बंधन में डालता है। वह व्यवहार में पडकर प्रपंचात्मक जगत को सत्य मान बैठता है। वह एक परब्रह्म को भूलकर सांसारिक मोहमाया में पड जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु उसे सुखदायी अथवा दु.खदायी दीखने लगती है। वह अपने आपको भूल जाता है। उसे "सत्यं ज्ञान अनन्त ब्रह्म" का ज्ञान नहीं रह जाता है। वह जगत में भटका घूमता है। वह अविद्या का पात्र बना रहता है। वह इस मायामय ससार के दु खों से छुटकारा तभी पाता है जब ईश्वर की कृपा होती है।[2] ईश्वर की कृपा होते ही वह ससार से दूर होने लगता है, उसे ज्ञान हो जाता है। वह ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करता है।

इस तरह श्री हर्ष व्यावहारिक दशा में ईश्वर की अद्वैतुकी का अनुमोदन कर उसकी सत्ता मानते हैं।

श्री हर्ष प्रमाणादि की अनिर्वाच्यता सिद्ध करके जगत को प्रपंच माना। जगत सत्ता के पश्चात् ईश्वर की सत्ता आती है, जिसका संकेत विविध सर्वनाम संज्ञक शब्दों का अवलम्बन करके "सोहस्ति" "नास्ति" "किमस्ति" इत्यादि विधि निषेधादि द्वारा किया जाता

---

1. अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत, न त्वविद्यमानेन।
(खण्डन., अच्युत., पृष्ठ 78)

2. ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतावासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते।।
(खण्डन., अच्युत , पृष्ठ 81)

है । ईश्वर की सत्ता भी अनिर्वाच्य है । वह वाणी का विषय नहीं है । वह बुद्धि पाश मे नहीं जकडा जा सकता है । अत उसका विवेचन सर्वनामार्थो की अनिर्वाच्यता इस प्रकार दिखलाते है ।-

ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण

ईश्वर सद्भावे किं प्रमाणाम् ? ईश्वर सद्भाव में क्या प्रमाण है ? यहाँ पर सर्वप्रथम हमें किम् शब्द का अर्थ स्पष्ट समझ लेना चाहिये, क्योंकि ईश्वर तथा प्रमाण दो प्रमुख शब्दों को आपस में संबंध बिठाने वाला यही शब्द है । अगर इसका अर्थ उचित और स्पष्ट हो जाय तो दोनों प्रमुख शब्दों में अच्छा सामजस्य हो सकता है ।

यहाँ पर किम् शंब्द के कई अर्थ हो सकते हैं । उदाहरण के लिये - निषेधात्मक, कुत्सा, वितर्क या प्रश्न । इनका एक एक का परीक्षण करें -

(क) "ईश्वर सद्भाव में प्रमाण नहीं है ।" पर यह ठीक नहीं समझ पड़ता, क्योंकि केवल प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि नहीं हो जाती है । उसको तो पूर्णतया सिद्ध करना पडेगा और सिद्ध करते समय अनेक विद्वानों द्वारा अनेक प्रमाण दिये गये है, जिसके कारण प्रतिज्ञा भग हो जायेगी । इसके अलावा हेतु का स्पष्टीकरण न करने पर न्यूनत्व दोष आ जायेगा ।

(ख) दूसरा अर्थ "ईश्वर में कुत्सित प्रमाण है ।" यह भी एक प्रतिज्ञा ही है । अत प्रथम पक्ष की तरह यह भी उचित नहीं ठहरता है ।

(ग) तृतीय पक्ष भी उचित नहीं जान पड़ता है, क्योंकि ईश्वर सद्भाव में ये प्रमाण है और ये प्रमाण नहीं है । इस प्रकार विवेचन करना चाहिये । अर्थात् ईश्वर के सद्भाव में क्या यह वेदादि प्रमाण होगा, या अन्य प्रमाण है, ऐसा विकल्प होगा --- यह कहा नहीं गया है । अत. न्यूनता दोष है ।

(घ) चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रश्नार्थक किम् शब्द से किसी पदार्थ की जिज्ञासा ज्ञापित होती है। व्यवहार मे प्रयुक्त होने के कारण यह जिज्ञासा प्रमाण विषयक हुई। जिसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि जिस विषय में प्रश्न हो, उत्तरवादी को उसी विषय में कहना चाहिये। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ईश्वर सद्भाव मे यह जो प्रश्न है, वह प्रामाण्य सामान्य विषयक है या प्रामाण्य विशेष विषय। यदि प्रथम पक्ष है तो 'ईश्वर सद्भावे प्रमाणम्' यही उत्तर ठीक है। कारण जिस विषय में प्रश्न हो, उसी का कथन करना चाहिये। यदि द्वितीय पक्ष है, तब भी 'ईश्वर प्रमाण है' यही उत्तर ठीक होता है। कारण प्रश्न वाक्य में जैसे प्रमाण शब्द विशेष परक होगा, वैसे ही उत्तर वाक्य में प्रमाण शब्द विशेष परक हो जायेगा।

प्रश्न उठता है कि यह विशेष कौन है? इस प्रश्न का 'किम्' शब्द से सामानाधिकरण्य होने से विशेष ही विषय है। अत 'विशेष' ही उत्तर भी हुआ। सामान्य रूप से प्रमाण की सिद्धि ही विशेष का भी आक्षेप कर लेगी, क्योंके विशेष के बिना सामान्य होता ही नहीं। वह विशेष व्यक्ति कौन है? इस प्रश्न का भी उत्तर पूर्वोक्त प्रकार से जाना जा सकता है, क्योंकि कहा गया है - प्रश्नकर्ता जिस वचन से निज प्रश्न का जिस प्रकार विषय कहे, उत्तरवादी भी उसी चयन से उसी प्रकार अर्थ कहे।[3]

जो प्रश्न का विषय हो, वही उत्तरवादी को कहना चाहिये। अतएव उस 'व्यक्ति विशेष' के विषय में हमें प्रामाणित उत्तर देना चाहिये, किन्तु उसके स्वरूप के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। अतएव इस प्रश्न को निरर्थक कहा जा सकता है, किन्तु यह उत्तर भी इस प्रश्न का उचित नहीं समझ पड़ता है, क्योंकि - किम् शब्द से व्यक्ति के मनोभावों की जिज्ञासा प्रतीत होती है। जिज्ञासा ज्ञान की इच्छा है। किसी अज्ञात का जब आभास हो जाता है तो उसमें पूर्णता प्राप्त करने के लिये मनोभावों को जिज्ञासा कहा जा सकता है। मानव मन अधिकाधिक उसके प्रकटीकरण की इच्छा रखता है। यह इच्छा अज्ञात विषय में नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानने पर तो हमें सभी विषयों की सर्वदा इच्छा होनी चाहिये, किन्तु

---

3. यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परो ययोक्त्या।
वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनाऽपि तयैव वाचा स तथाविधोऽर्थ.। खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 416.

ऐसा नहीं होता है। अतएव जिस व्यक्ति की ईश्वर के सद्भाव में प्रमाण जानने की इच्छा हो, उसे उसकी इच्छा के कारण प्रमाण का ज्ञान अवश्य मानना होगा। उसकी जिज्ञासा ही ईश्वर में प्रमाण हुई। 'ईश्वर में क्या प्रमाण है' यह प्रश्न पूछने से ही स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर है। उसके विषय मे प्रश्नकर्ता को ज्ञान है। वह ज्ञान (knowledge) प्रमणिक (True) है। अथवा अप्रमाणिक (False) यह तो बाद में सोचने की चीज है। जिस पदार्थ (object) पर प्रश्नकर्ता का ज्ञान आधारित है। उस आधार की क्या यथार्थता है? क्या अयथार्थता? यदि यथार्थ कहें, तो वही ज्ञान स्वविष प्रमाण की भी उपस्थिति करेगा, क्योंकि विषय में प्रमाण की प्रवृत्ति के बिना प्रमाण विषयक ज्ञान की यथार्थता का निश्चय नहीं हो सकता। फिर वह प्रमाण भी स्वविषय ईश्वर के सद्भाव की उपस्थिति कर ही देगा। इस तरह ईश्वर सद्भाव अपने आप सिद्ध हो गया।[4]

यदि प्रश्नकर्ता चाहे कि अयथार्थ ज्ञान का विषय प्रमाण हममे अयथार्थ ज्ञान ही उत्पन्न करे, तो स्वाधीन अर्थ में दूसरे की अपेक्षा क्यों की जाती है? यथार्थ ज्ञान के उत्पादन में तो आप ही कुशल हैं।

प्रश्नकर्ता चाहे कि अयथार्थ ज्ञान के विषय को यथर्थ का ज्ञान विषय बनाया जाय, यदि ऐसी इच्छा है तो व्याघात होने से इस विषय में आपकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। 'शुक्तिका' रजतत्वरूप से मेरे यथार्थ ज्ञान का विषय हो, इसके लिये कोई भी बुद्धिमान किस तरह प्रवृत्त होगा? जो पदार्थ रूप से यथार्थ ज्ञान का विषय हो, उसी रूप से वह अयथार्थ ज्ञान का भी विषय हो, इसमें व्याघात है।

यदि प्रश्नकर्ता चाहे कि मैं अपने सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर विषयक प्रमाण में यथार्थ ज्ञान का उत्पादन करें, तो यह ठीक नहीं। कारण ईश्वर सद्भाव विषयक प्रमाणाभास को आप भ्रमवश प्रमाण मानते है। हम उस प्रमाणाभास के प्रमाण्त्व का प्रतिपादन करे - यह हमारा सिद्धान्त नहीं है। अपितु हमारा यही सिद्धान्त है कि ईश्वर सद्भाव विषयक प्रमाण (वेद) को आपने भ्रमवश प्रमाणाभास मान रक्खा है, वह वेद हमें प्रमाणनीय (प्रमाण रूप से स्वीकर्त्तव्य) है।[5]

---

4. तेनापि प्रमाणेन स्वगोचर ईश्वरसद्भाव उपस्थाप्यत इत्यनायासेनैव सिद्धोऽस्माकमीश्वरसिद्धिमनोरथः। ।

यहाँ प्रश्नकर्ता का आशय यह हो सकता है कि आप ईश्वर सद्भाव विषयक प्रमाण का बोधन मात्र करे। प्रमाण से ही बोधन करें या अप्रमाण से, किन्तु यह भी मत युक्त नही, क्योंकि केवल बोधन अप्रमाण से भी हो सकता है, और अयथार्थ ज्ञान के उत्पादन मे आप स्वाधीन ही हैं। अत. दूसरे की अपेक्षा व्यर्थ है।

ईश्वरसद्भाव विषयक प्रमाण का जो ज्ञान प्रश्नकर्ता को हुआ है, वह यथार्थ है या अयथार्थ है, इस विषय मे संदेह है, किन्तु प्रश्न का यह आशय नही हो सकता। कारण ऐसा मानने पर अर्थात् प्रमाण की प्रतीति में यथार्थत्व अयथार्थत्व का सदेह होने पर उस प्रतीति का विषय जो प्रमाण है, उसके भी विषय ईश्वर सद्भाव में तुम्हे सदेह ही है। अत सशय से ही यह प्रश्न किया गया है।

श्री हर्ष कहते है कि सशय विनास के लिये हमारे शिष्य बनों, हम तुम्हारे सशय का छेदन करेगे।[6] क्योंकि ईश्वर के सद्भाव की प्रतीति रहते प्रमाण विषयक सशय नही हो सकता है।

यहाँ पर श्री हर्ष ने बहुत ही उत्तम तर्क प्रस्तुत किया है - जब आप ईश्वर के सत् भाव में प्रमाण जानना चाहते हैं, इसके माने हुये कि आप ईश्वर को जानते हैं, क्योंकि अगर आप ईश्वर को नही जानते हैं तो आपको फिर मौन ही रहना चाहिये, क्योंकि एक आचार्य ने कहा है कि "अज्ञात देवदत्त के विषय में देवदत्त कृष्ण है या गौर"? यह प्रश्न धृष्टता के सिवा कुछ नही है।[7] अगर उसके विषय में थोडा जानते है, किन्तु आपको ज्ञान मे संशय है तो संशय के निवारण के लिये हमारे शिष्य बनो, भाव यह है कि ज्ञात की जिज्ञासा होती है। अत ज्ञानार्थक प्रश्न अयुक्त है और प्रमाण विषयक आपका ज्ञान यदि यथार्थ है, तो प्रमाण आपको ज्ञात है। यदि अयथार्थ है तो वस्तुत ईश्वर में प्रमाण नहीं है, उसके लिये प्रश्न अयुक्त है।

---

6 तथाच स्वीकुरु शिष्यभावम् प्रसादयचिरं चरणशुश्रूषाभिरस्मान, च्छेत्स्यामस्ते संशयमिति।
खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 419

7. न ह्युप्रतीते देवदत्तादौ स किं गौर कृष्णो वेत्ति वैयात्यं विना प्रश्न. स्यादिति।
खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 571.

इस प्रकार श्री हर्ष ने किम्' शब्द का खण्डन करके 'ईश्वरसद्भावे प्रमाणऽस्ति' ईश्वर सत् है, वह प्रामाणिक है, यह सिद्ध किया । यहाँ पर सर्वनाम के खण्डन द्वारा ईश्वर के सत् भाव का प्रतिपादन किया गया है। श्री हर्ष का विश्वास है कि ईश्वर मे कोई प्रमाण नहीं है। वह अनिर्वचनीय है, क्योंकि यदि कोई ईश्वर के विषय में प्रमाण उपस्थित भी करे तो वे स्वय उसका खण्डन कर देते है। तो स्वय भला वे सम्पूर्ण सत्ता को अनिर्वचनीय मानने वाले ईश्वर के विषय में जो मन वाणी बुद्धि से परे है, उसके विषय मे बुद्धि द्वारा प्रमाण नहीं दिये जा सकते है। केवल ईश्वर विषयक ज्ञान हो सकता है।

--0--

अध्याय सप्तम

खण्डन विधि द्वारा अद्वैत सिद्धि

"नेह नानास्ति किञ्चन"

वृहदा उप. 4/4/19

खण्डन विधि द्वारा अद्वैत सिद्धि

पिछले अध्याय में वर्णित खण्डन विधि का सीधा उपयोग अद्वैत सिद्धि मे है । वह विधि सिद्ध करती है कि किसी वस्तु का लक्षण या निर्वचन नही किया जा सकता है । इस निष्कर्ष से अनिर्वचनीयतावादी युक्ति फलित होती है, जो अद्वैतवाद को सिद्ध करती है । पुनश्च वहीं विषय विषयी भाव का जो खण्डन किया गया है, उसका सीधा संबंध अभेदवाद से है और उसके आधार पर अद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये अभेदवादी युक्ति बनाई गई है । फिर खण्डनखण्डखाद्य मे भेद का खण्डन भी सम्यक् प्रतिपादित है । यह खण्डन भी अद्वैतवाद को सिद्ध करता है । इस प्रकार खण्डन विधि अद्वैतवाद के लिये तीन युक्तियाँ प्रदान करती है ।

ये तीनों युक्तियाँ प्रसंगानुमान है । प्रसंगानुमान किसी अनुमेय के विरोधी का खण्डन करके उसके उस अनुमेय को सिद्ध करता है । अनिर्वचनीयतावादी युक्ति मेयमात्र का खण्डन करके सिद्ध करती है कि मेय नामक पदार्थ है ही नही । और उसके न होने से जो कुछ है वह एक मात्र अप्रमेय स्वय सिद्ध आत्मा ही है । पुनश्च विषयविषयिभाव का खण्डन सिद्ध करता है कि यदि कोई प्रमेय भी है तो वह विषयी से अन्वित है । अत विषयी से भिन्न कोई विषय न होने के कारण विषयी की एकता और अद्वितीयता सिद्ध हो जाती है । अन्त में भेद मात्र का खण्डन सिद्ध करता है कि जब भिन्नता है ही नहीं तो फिर द्वैतवाद कहाँ से बन सकता है । यह वास्तव मे अद्वैत को सिद्ध करना है ।

1. अनिर्वचनीयतावादी युक्ति .

श्री हर्ष ने अपने खण्डनखण्डखाद्य में प्रमाण और उसके प्रकारों का आलोचनात्मक विवेचन किया है । यह विषय अद्वैतवेदान्त के इतिहास मे श्री हर्ष के पूर्व अनेक आपत्तियों और विरोधाभासों से भरा हुआ था । अद्वैतवेदान्त एक ओर सभी प्रमाणों को भ्रामक मानता था, तो दूसरी ओर षट् प्रमाणों के प्रमाणिकता मे विश्वास करता था । एक ओर 6 प्रमाणों का खण्डन और दूसरी ओर 6 प्रमाणों का समर्थन - यह था विरोधाभास ।

इस विरोधाभास को शंकराचार्य ने परमार्थ और व्यवहार द्विविध सत्य के आधार पर दूर किया था । उनका कहना था कि परमार्थतः पारमार्थिक सत्ता को सिद्ध करने के लिये अथवा पारमार्थिक सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सभी प्रमाण अपर्याप्त हैं, किन्तु

व्यावहारिक सत्ता को सिद्ध करने के लिये या व्यावहारिक सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सभी प्रमाण पर्याप्त हैं। शकराचार्य के इस समाधान का आधार सुन्दर पाण्डेय के निम्नलिखित श्लोक है, जिनको शकर ने चतु सूत्री के अन्त में उद्धृत किया है -

'गौणमिथ्यात्मनोऽसत्वे पुत्रदेहादि बाधनात् ।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येव बोधिकार्यं कथं भवेत् ।।
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात्प्राक्प्रमातृत्वामात्मन ।
अन्विष्ट स्यात्प्रमातैवपाप्मदोषादिवर्जित. ।।
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पित ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणत्वाऽऽत्मनिश्चयात्'।।

(इति भाष्ये चतु सूत्री समाप्ता)

स्पष्ट है कि इस समाधान का आधार एक नहीं है। इसके अनुसार जब परमार्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक सभी प्रमाण सत्य है, और जब परमार्थ का ज्ञान हो जाता है तब सभी प्रमाण मिथ्या हो जाते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि परमार्थत. प्रमाण क्या है? और कितने प्रमाण परमार्थत सत्य है?

इन प्रश्नों का उत्तर शकराचार्य के अनुसार एक नहीं है, बल्कि दो हैं। सर्व सिद्धान्त सग्रह के लेखक ने, जो कदाचित् शकराचार्य द्वारा स्थापित चार मठों में से किसी एक मठ के शकराचार्य की पदवी वाले कोई मठाधीश थे, ने पारमार्थिक प्रमाण और व्यावहारिक प्रमाण के विरोधाभास को एक दूसरे ढग से दूर किया है। उनके मत से पारमार्थिक प्रमाण अशेष प्रमाण हैं, और वह 'तत्वमसि' आदि वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान है।

प्रत्यक्षादि 6 प्रमाण सशेष प्रमाण हैं, जो केवल व्यावहारिक है और जो आत्मा के विषय में प्रमाण नहीं हैं -

निवर्तकमविद्यायां इति मानलक्षणम् ।
सशेषाशेषभेदेन तदेवं द्विविधं मतम् ।। (84)

तत्वमस्यादि वाक्योत्थमशेषाज्ञानबाधकम् ।
प्रत्यक्षमनुमानाख्यमुपभानन्तथा गम ।। (85)
अर्थापत्तिरभावश्च प्रमाणानि षडेव हि ।
व्यावहारिकनामानि भवन्त्येतानि नात्मनि ।। (86)

(सर्व सिद्वान्त सग्रह वेदान्त पक्ष)

यह समाधान मूलत आदिशंकर का ही समाधान है, किन्तु इसकी कुछ अपनी विशेषताये हैं। प्रथमत इसमे दोनों प्रमाणों की परिभाषा एक ही दी। प्रमाण वह है जो अविद्या क निवर्तक है। द्वितीयत पारमार्थिक प्रमाण को अशेष प्रमाण कहा गया, क्योंकि वह सम्पूर्ण अविद्या के अंश विशेष का ही निवर्तक है।

इस प्रकार व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रमाण दोनों की एकता और एक वाक्यता स्थापित की गई। किन्तु इस समाधान मे जो आधार है, वह निषेध है। भाव रूप मे दोनों प्रकार के प्रमाणों का क्या महत्व है, यह इस समाधान से स्पष्ट नहीं होता है। इसलिये प्रमाणों का विरोधाभास मूलत बना ही रहता है।

श्री हर्ष ने इस विरोधाभास को अनिर्वचनीयता के तर्क से दूर किया। उनके मत से प्रमाण, अनिर्वचनीयता को सिद्ध करता है, अनिर्वचनीयता का ज्ञान देता है, और स्वयं अनिर्वचनीय भी है।

सबसे पहले वे प्रमाण का ही विवेचन करते हैं और सिद्ध करते हैं कि प्रमाण अनिर्वचनीय है।

प्रमाण का विवेचन

श्री हर्ष की प्रणाली 'प्रसंग' नामक तर्क है। उन्होंने प्रसंग के द्वारा प्रमाणों की अनिर्वचनीयता सिद्ध किया है। इसमें वे प्रत्येक प्रमाण के मुख्य उपादान या तत्व को चुनते हैं, और उसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कई विकल्प बनाते हैं। फिर प्रत्येक विकल्प का सम्यक् परीक्षण करते हैं। कसौटी पर खरा उतरने के कारण अन्त में उसे अनिर्वचनीय सिद्ध करते हैं।

उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण पर 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्' 'भासमानाकारेन्द्रिय सम्प्रयोगजम्' तथा 'साक्षात्कारित्वम्' आदि 9 लक्षण बनाये और एक एक लक्षण से फिर अनेक विकल्प बनाकर सिद्ध किया कि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, अन्योन्याश्रय एवं आत्माश्रय आदि दोषों के कारण लक्षण ही उचित न ठहरने की वजह से प्रत्यक्ष प्रमाण अनिर्वचनीय है।

अनुमान मे लिंग, परामर्श, अनुमिति और व्याप्ति पर अनेक विकल्प बनाकर सिद्ध किया कि इनका लक्षण वक्ष्यमाण दोषों से बाधित होने के कारण अनुमान भी अनिर्वचनीय है।

उपमान मे उसके 3 लक्षणों का परीक्षण किया और सिद्ध किया कि उचित लक्षण न हो सकने के कारण उपमान भी अनिर्वचनीय है।

शब्द प्रमाण मे श्री हर्ष मुख्य दो पक्ष बनाते है - आप्तवाक्य ही प्रमाण है तथा यथार्थ वाक्य शब्द प्रमाण है, और फिर इनके अनेक विकल्प बनाकर परीक्षण करते हैं और अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पद तथा वाक्य की निरुक्ति न होने से ही अपौरूषेय वैदिक वाक्य शब्द प्रमाण नही है।

प्रमाण के विषय में श्री हर्ष के दो मत हैं - निषेधात्मक तथा भावात्मक। निषेधात्मक मत के द्वारा उन्होंने सिद्ध किया कि प्रमाण अनिर्वचनीय हैं या प्रमाण अपरिभाषेय है, क्योंकि प्रमाण स्थिर नहीं है। श्री हर्ष प्रमाणों को लक्षणविहीन सिद्ध करके उन्हें मिथ्या सिद्ध कर देते हैं। उनका विचार है कि भौतिक जगत द्वारा प्राप्त मानवी बुद्धि, विशुद्ध ज्ञान की कोटि मे नही आ सकती है। अत वे व्यावहारिक बुद्धि द्वारा अन्य प्रमाणों का निषेध कर देते है।

साथ ही वे प्रमाणों के विषय में भावात्मक मत व्यक्त करते हुये कहते हैं कि प्रमाणादि की व्यावहारिक सत्ता तो है ही। उनको पूर्णत असत् नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वे व्यवहार मे सत् पाये जाते हैं। उनकी भी अपनी सत्ता कुछ काल के लिये है। उनका बोध तभी होता है जब अज्ञान समाप्त हो जाता है। उस दशा में हम व्यवहार से उठकर एकमात्र ब्रह्मानन्द का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तब व्यावहारिक सत्ता जगत की मिथ्या हो जाती है, और सब प्रमाण प्रमेयादि बाधित होकर मिथ्या दीखने लगते हैं।

श्री हर्ष के ये दो मत सुन्दर पाण्ड्य और शंकराचार्य के ही मत है, किन्तु जब श्री हर्ष स्वप्रकाश का निरूपण करते हैं तब उनके मत का वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है। वहाँ वे प्रमाण को स्वप्रकाश कहकर उसके भावरूप को प्रकट करते है। इस प्रकार श्री हर्ष के प्रमाण सबंधी दोनों निष्कर्ष यों है -

1 - प्रमाण अनिर्वचनीय है।

2 - प्रमाण स्वप्रकाश है।

ये दोनों निष्कर्ष वास्तव में एक ही तथ्य के दो पहलू हैं, क्योंकि जो स्वप्रकाश है वही अनिर्वचनीय है और जो अनिर्वचनीय है वह स्वप्रकाश है।

श्री हर्ष कहते हैं कि यह प्रपंच जगत सत् नहीं है, क्योंकि वस्तु की सिद्धि लक्षण से होती है। और लक्षण वक्ष्यमाण दूषणों से दूषित होता है। वह असत् भी नहीं है, क्योंकि लौकिक तथा विचारक के व्यवहार का विषय होता है।[1] अतः सद्सत् भिन्न अर्थात् निर्वचन न हो सकने के कारण अनिर्वचनीय है।

श्री हर्ष प्रमाण, प्रमेयादि सोलह पदार्थों के लक्षणों का खण्डन करके उनमें अनेक दोष दिखलाते हैं और कहते हैं इन लक्षणों का निर्वचन नहीं हो सकता है। वे कहते हैं जो वादी निरूक्ति (लक्षण) करने का अभिमान करते हैं, वे भी निर्वचन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वक्तव्य वस्तु में ही ऐसा दोष है कि उसका निर्वचन किसी से नहीं हो सकता है।[2] जब प्रपच जगत के लक्षणों का निर्वचन ही नहीं हो सकता तो इसलिये वह अनिर्वचनीय है। यह प्रश्न हो उठता है कि आखिर अनिर्वचनीयत्व ही क्या है। यह उसका खण्डन जगत के साथ में नहीं हो जाता। इसके उत्तर में श्री हर्ष कहते हैं कि जो सम्पूर्ण जगत को अनिर्वचनीय कहता है, वह अनिर्वचनीयत्व को भी अनिर्वचनीय ही कहेगा, क्योंकि जगत के भीतर अनिर्वचनीयत्व भी आ ही जाता है।[3]

---

1. नेद सत् भवितुमर्हति, वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात्। नाप्यसदेव, तथा सति लौकि विचारकाणां सर्वव्यवहारव्याहत्यापत्ते.। (ख. चौ पृ. 68)
2. यस्तुवादीनिरूक्त्यभिमानं धत्ते स निर्वक्तुं न तु शक्ष्यति वक्तव्यदोषात्। (ख., चौ., पृ. 69)
3. यो हि सर्वमनिर्वचनीयसदसत्वं ब्रूते, स कथमनिर्वचनी यतासत्वव्यवस्थितौ पर्यनुयुज्येत, सापि हि कृत्स्नप्रपंचपरसर्वशब्दाभिधेयमध्यनिविष्टैव। (ख., चौ., पृ. 71)

अनिर्वचनीयत्व को भी अनिर्वचनीय मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि अगर अनिर्वचनीयत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया तो अनिर्वचनीयतावाद य अद्वैतवाद कैसे सिद्ध होगा ? इसके उत्तर मे श्री हर्ष कहते हैं प्रतिवादी (द्वैतवादी) की व्यवस्था से ही अनिर्वाच्यता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उनके सत्व - असत्व विषयक निर्वचन (व्याख्यान लक्षण) के निषेध से अनिर्वाच्यता ही सिद्ध होती है। उन्होंने माना है कि विधि या निषेध इन दोनों में एक के खण्डन से अन्य सत्य सिद्ध होता है। अत दोनों के निषेध से अनिर्वाच्य सिद्ध होगा। अत संसार अनिर्वचनीय है, यह कथन भी हमारे दूसरों की रीति से है।[4]

श्री हर्ष कहते हैं कि वस्तुत हम संसार के सत्व या असत्व की व्यवस्था नही करते है। हम लोग तो स्वत. सिद्ध चिद्रूप केवल ब्रह्म तत्व का निश्चय पाकर कृतकृत्य हो सुख से स्थित है।[5]

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब संसार के विषय में विचार ही नहीं करते तो ब्रह्म के विषय में ही तथा ब्रह्म से भिन्न के विषय में असत्व का ही विचार कैसे करते हैं? इस प्रश्न के शंका समाधान के लिये श्री हर्ष कहते हैं कि हमारी प्रवृत्ति स्वार्थसाधक नहीं है, किन्तु जो परीक्षक स्वकल्पित पक्ष साधन और पर पक्ष दूषण की व्यवस्था करके तत्व (सत्य) के निर्णय करने की इच्छा से कथा आरम्भ करते हैं, उनसे हम कहते हैं कि आपकी यह व्यवस्था ठीक नहीं है, क्योंकि आपके द्वारा कल्पित दूषणों से ही आपकी व्यवस्था खण्डित हो जाती है।[6] पुनश्च अव्याप्ति आदि दोषों के लक्षणों में दोष होने से वे अनिर्वचनीय हैं या नहीं? यदि अनिर्वचनीय हैं, तो उन दोषों से प्रमाण-प्रमेय के लक्षण कैसे दूषित होंगे। यदि अनिर्वचनीय नहीं है, तो उन दोषों से ही द्वैत सिद्ध हुआ, इस प्रकार वादी कह सकते हैं किन्तु इसके खण्डन में श्री हर्ष कहते हैं कि हम उन दोषों को भी अनिर्वचनीय ही मानते हैं अत द्वैत नहीं है।

---

4. परस्यैव व्यवस्थयैव पर्यवस्यति -- निर्वचनप्रतिक्षेपादनिर्वचनीयत्वम्, विधि निषेधयोरेकतरनिरासस्य --- ततः परकीयरीत्येदमुच्यते। (ख., चौ, पृ. 71)

5 वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपञ्चसत्वाऽसत्वव्यवस्थापनविनिवृत्ता स्वत सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्था सुखास्महे। (ख., चौ., पृ. 72)

6. ये तु स्वपरिकल्पितसाधनदूषणव्यवस्थया विचारमततार्य तत्वं निर्णेतुमिच्छन्ति तान् प्रति ब्रूम. -- न सध्वीय भवतां विचारव्यवस्था, भवत्कल्पितव्यवस्थयैव व्याहतत्वात्। (वही, पृ. 72)

किन्तु वादी उन दोषों को मानते हैं, अतएव वादियों के मतानुसार ही हम उन दोषों से प्रमाण-प्रमेय के लक्षणों का खण्डन करते है।[7]

इस प्रकार प्रमाण-प्रमेय लक्षण और अव्याप्ति आदि दोषों को श्री हर्ष ने अनिर्वचनीय कहकर अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

2. भेद-खण्डन युक्ति .

प्रत्याक्षादि प्रमाणों द्वारा वक्ष्यमाण वस्तुयें अद्वैतवाद को असिद्ध करके भेद की प्रतीक हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वे प्रत्यक्षादि किस तरह के भेद को सिद्ध करते है। इसके लिये श्री हर्ष भेद के चार प्रकार लेते है --

1 स्वरूप भेद।
2 अन्योन्याभाव।
3 वैधर्म्य।
4 (प्रथकत्व) या अन्य कोई।

प्रथम प्रकार ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि स्वरूप भेद को विषय नहीं करते हैं। घट और पट का स्वरूप है, परस्पर से भेद, वह परस्पर के अन्तर्भाव के बिना हो ही नहीं सकता।[8]

भेद किसी अन्य प्रतियोगी से ही सिद्ध होता है। अगर प्रतियोगी के बिना केवल रहस्य को भेद कहें तो वह भेद की केवल परिभाषा (संकेत) हुई, शब्दार्थ नहीं। यदि घटप्रतियोगिक भेद पट का स्वरूप है और वह प्रत्यक्ष का विषय है, तो घट भी पट के स्वरूप में ही प्रविष्ट हुआ। इस रीति से भेदग्राही प्रत्यक्ष घट-पट के ऐक्य को ही विषय करेगा,

---

7. अत एवाअस्मदुपन्यस्यमनदूषणस्थितिविषया. पर्यनुयोगा निरवकाशा. त्वद्व्यवस्थैव त्वद्व्यवस्थाया व्याहत्युपन्यासात्। (ख., चौ., पृ. 72)

8. यदितावत् स्वरूपं भेद., स नाम घटपटयोर्हि स्वरूपं यत्परस्परस्माद्भेदः तत्परस्परमनन्तर्भाव्य न संभवति। (ख., चौ., पृ. 103)

इसलिये विपरीत ही हुआ, अर्थात् अभेद का ही ग्रहण होगा, भेद का नहीं।[9]

यहाँ प्रश्न होता है कि प्रतीति का जैसे अभेद-विषयकत्वरूप से कथन किया है, वैसे ही इस प्रतीति के भेद का भी उल्लेख होना चाहिये, क्योंकि घटपट के अभेद रहते, घट ऐसी ही या पट ऐसी ही बुद्धि होती घट से भिन्न पट है, ऐसी बुद्धि नहीं होगी। इसके खण्डन मे श्री हर्ष कहते हैं कि हम परमार्थ मे ही भेद नहीं मानते व्यवहार में तो भेद मानते ही हैं। अत व्यावहारिक भेद से इस प्रतीति का निर्वाह हो जायेगा।[10]

और अभेद अवश्य पारमार्थिक है, क्योंकि वस्तु के स्वरूपात्मक अभेद को प्रकाश नहीं करती हुई बुद्धि, भेद के प्रकाशन में समर्थ नही होती है। वहाँ आद्यवस्तुस्वरूप अभेद मे वह बुद्धि प्रमा होती है और अन्त्यभेद प्रमा नहीं होती है। अत उपजीवन होने से अभेद मे उक्त प्रतीति प्रमा है, भेद नहीं।

अगर माना जाय केवल भेद ही पट का स्वरूप है और वह स्वरूप मे अप्रविष्ट घट से निरूपित होता है तो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी से रहित भेद की प्रतीति कही भी नहीं होती, नियमत· प्रतियोगी से विशिष्ट ही भेद प्रतीति होती है। अत घट भी भेद के स्वरूप में ही अन्तर्भूत है। यदि कहा जाय कि प्रतियोगी से निरूपित संयोगादि का स्वरूप प्रतियोगीयुक्त नहीं रहता है, वैसे ही भेद का स्वरूप भी रहेगा, तो उचित नहीं है, क्योंकि यह कौन सी युक्ति है जो स्वभावत अन्य की आकांक्षा से रहित (स्वत· सिद्ध) जो पट का स्वरूप है वह अन्य (घट) प्रतियोगी से निरूपित होता हुआ, उस घट से भेद स्वरूप होता है। अर्थात् यह कुशलता नहीं है, क्योंकि जो स्वरूप से ही नील है, वह पीत से निरूपित होता हुआ नील नहीं होता है।

---

9. भेदो हि भवन् कस्मादपि भवति ----- विपरीतमापद्यते। (ख·, चौ , पृ 103)

10. स्यादप्येष पर्यनुयोगो यद्यविद्याविद्यमानभाव भेदं पारमार्थिकमभेदमिच्छन्तो अपि प्रत्यादिशाम। (ख·, चौ , पृ 104)

11. यदि प्रथमः तदा पट प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो घटस्य स्वरूपं भवत् आत्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैतमेव पर्यवस्यति। (ख·, चौ , पृ 105)

फिर यदि माना जाय कि प्रतियोगी (घट) से निरूपित पट का स्वरूप भेद है तो वहाँ पट के स्वरूपरूपी भेद का जो प्रतियोगित्व है, वह घट का स्वरूप है या धर्म। यदि पहला पक्ष माना जाय कि घट का स्वरूप है तो पटनिष्ठ भेदीय प्रतियोगित्व घट का स्वरूप हुआ। अत: पट भी घट का स्वरूप हुआ। अत अद्वैत मे ही भेद प्रतीति का पर्यवसान क्यों न माना जाय।[11]

दूसरा पक्ष, पट के स्वरूप-रूप भेद से निरूपित प्रतियोगित्व घट का धर्म है, यह भी उचित नहीं है, क्योंकि पट का स्वरूप जो भेद उसके प्रतियोगित्व के स्वरूप मे पट का प्रवेश होने से प्रतियोगित्व के साथ पट का अभेद हो जायेगा। तब जैसे प्रतियोगित्व घट का धर्म है, वैसे ही पट का धर्म हो जायेगा, क्योंकि दोनों का अभेद है। जब उक्त रीति से पट घट का धर्म हुआ, तब उसी रीति से घट भी पट का धर्म हुआ। अत घट पट का आश्रय और धर्म होगा तथा घट भी होगा तथा पट भी घट का धर्म और आश्रय होगा, किन्तु इस तरह घट पट आरूढ़ पट तथा उसी पट पर आरूढ वही घट किसी प्रमाण का विषय नहीं होता।

फिर उस धर्म का धर्मी के साथ असम्बन्ध मानें तो सब धर्मो को सर्वत्र रहना चाहिये। क्योंकि संबंध आदि कोई निमायक है ही नहीं। यदि कोई सम्बन्ध माने तो उस सम्बन्ध का संबंध, पुन. उसका अन्य संबंध इस तरह अनवस्था हो जायेगी। आरम्भ या अन्त मे यदि स्वरूप संबंध माने, तो एक सम्बन्धी के स्वरूप सबध में अन्य सबंधी का प्रवेश होने से दोनों का ऐक्य हो जायेगा। इसी रीति से घटलादि का भी पट से अभेद हो जायेगा। अत आप स्वरूपरूपी भेद मे जो प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं, वह प्रत्यक्ष अद्वैत में ही प्रमाण हो गया।[12]

अन्योन्याभाव :

पदार्थ का स्वरूप मात्र भेद नहीं है। अन्यथा निर्विकल्पादि ज्ञानजन्यज्ञानविषय में अतिप्रसंग होगा। यदि प्रतीति के बल से भेद माना जाय तो भी स्वरूपात्मक नहीं सिद्ध हो

---

11. यदि प्रथम तदा पटं प्रति प्रतियोगित्वमित्येतावानेवार्थो घटस्य स्वरूपं भवत् आत्मन्येव पटमपि प्रक्षिपतीति कथं नाद्वैत पर्यवस्यति। (ख., चौ., पृ 105)

12. तस्मात् स्वरूपभेदे प्रमाणं भवत् प्रत्यक्षमद्वैत एवं प्रमाणं भवति। (ख , चौ., पृ 108)

हो सकने से अन्योन्याभाव स्वरूप कथंचित् भेद हो सकता है, यदि उसमे बाधक नहीं हो। परन्तु उक्त प्रतियोगी अधिकरण (अनुपयोगी) दोनों की एकतापत्ति से ही अन्योन्याभावरूप भेद को विषय करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण अद्वैत श्रुति का बाधक है। इस पक्ष का निरास (खण्डन) ही समझना चाहिये, क्योंकि जिससे भेद मन्तव्य है, उस प्रतियोगी को विशेषण रूप से अपने स्वरूप में अन्योन्याभाव भी अन्तर्भाव करेगा तो फिर भेद ही नहीं रहेगा इत्यादि युक्ति से अन्योन्याभाव का भी निरास हो गया।[13]

यदि कहा जाय अन्योन्याभाव का घट पट तादात्म्य प्रतियोगी नहीं है, किन्तु घटनिष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी पट है और पटनिष्ठ अन्योन्याभाव का प्रतियोगी घट। इसलिये असत् प्रतियोगित्व दोष नहीं है, तो उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर संसर्गाभाव से अन्योन्याभाव में विशेषता ही क्या होगी? अर्थात् अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव में स्वभावकृत तो कोई विशेष है नहीं, प्रतियोगी तथा अनुयोगी कृत ही विशेष है जो उचित नहीं। जैसे घट-प्रतियोगिक पट संसर्गी घट-ससर्गाभाव है, वैसे ही घट प्रतियोगिक पटात्मक घट-अन्योन्याभाव है -- यह भेद दोनों अभावों में नहीं रह सकता। आप अभाव को भावरूप नहीं मानते। अत तादात्म्य और संसर्ग को प्रतियोगि कोटि (स्वरूप) मे अन्तर्भाव करके अन्योन्याभाव और ससर्गाभाव की विलक्षणता को मानना होगा, और ऐसा होने पर अत्यन्त असत् प्रतियोगिता दुर्वार होगी।[14]

साथ ही यह भी नहीं माना जा सकता है कि घट में पटत्व का तथा पट मे घटत्व का का अभाव ही घट-पट का अन्योन्याभाव है, क्योंकि ऐसा होने पर घटत्व और पटत्व में वैसा धर्म कोई माना नहीं जाता है जो परस्पर के स्वरूप (घटत्व-पटत्व) में निषेध के योग्य हो। अत उन दोनों के तादात्म्य (अभेद) प्राप्त होने पर घट में घटत्व का और पट में घटत्व का निषेध करता हुआ प्रमाण, घटत्व-पटत्व से शून्य (रहित) पट घट दोनों को सिद्ध करता है। इसलिये घट तथा पट में वैधर्म्य तथा स्वरूप भेद न होने के कारण अन्योन्याभाव किसी को प्रतियोगी या आलम्बन मानकर प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है।

---

13 अन्योन्याभावं भेदमवगाहमानं प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधक मित्यपि निरस्तम्। अन्योन्याभावोऽपि यस्माद्भेद एष्टव्यस्तमात्मन्येवास्तर्भावयेदुक्तयुक्तिभिः। (ख., चौ., पृ. 109)

14. तस्मात्तादात्म्यं संसर्गं च प्रतियोगिकोटावन्तर्भाव अन्योन्याभाव संसर्गाभावयोर्वैलक्षण्यमभ्युपेयम्। तथा सति चात्यन्तासत्प्रतियोगिता दुर्वारा। (ख., चौ., पृ. 111)

वैधर्म्य .

वैधर्म्य भी भेद प्रतीति नही करवा सकता है । यदि कहा जाय कि घटनिष्ठ अभाव प्रतियोगी पटस्वरूप धर्मत्वरूप पट का तथा पटनिष्ठ अभाव प्रतियोगी घटत्वरूप धर्मतत्व घट का जो वैधर्म्य है, वही भेद है । उसी का अवलम्बन कर भेद-प्रत्यक्ष श्रुति का बाधक हो सकता है, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि वैधर्म्य में वैधर्म्य रहता है या नहीं। यदि नहीं रहता तो वैधर्म्य की विश्रांति ही दोष हुआ। फिर जिस वैधर्म्य में वैधर्म्यान्तर नहीं मानेंगे तो उन दोनों का ऐक्य भी हो जायेगा। यदि वैधर्म्यो की अनादि अनन्त धारा माने तो अनवस्था दोष होगा। यदि बीजांकुर के तुल्य अनवस्था को इष्टापन्ति माने तो वैधर्म्य में वैधर्म्य उसमे अन्य वैधर्म्य - इस रीति से वैधर्म्य की अविश्रान्त धारा अनुभव की अविषय होने से अनुभव रूप दोष हो जायेगा । अगर माने कि वैधर्म्य में वैधर्म्य नहीं रहता है तो उन दोनों में ऐक्य होने से वे अपने अधिकरण के भेद नही हो सकते। अर्थात् अन्त में किसी वैधर्म्य में वैधर्म्य नहीं होने पर उसके भेद द्वारा सबका अभेद होगा। अत वैधर्म्य अद्वैत श्रुति का बाधक नहीं हो सकता है।[15]

पृथकत्व :

यदि कहा जाय, स्वरूप अन्योन्याभाव तथा वैधर्म्य से भिन्न पृथकत्व नामक नैयायिकाभिमत गुण भेद-प्रतीति का विषय है ही इसलिये अद्वैत नहीं हुआ, किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि वह पृथकत्व भी 'पृथकत्वरूप भेद से भिन्न अथवा अभिन्न धर्मो मे रहता है' इत्यादि विकल्पों से पूर्वोक्त दोषों के लंघन में असमर्थ ही है। यदि भेद के आश्रय के साथ भेद का भेद न माने, तो स्वाश्रय से भेद का अभेद हो जायेगा। अत यदि भेद माने और उसी का स्व में निवेश हो तो आत्माश्रय हो जायेगा। यदि अन्य भेद माने तो अनवस्था होगी।

यदि कहीं जाकर अन्त में भेद का भेदाश्रय के साथ भेद न माने ते उसके ऐक्य द्वारा मूलपर्यन्त ऐक्य हो जायेगा।[16]

---

15. अतएव न वैधर्म्यमपि भेदमवेदयत् प्रत्यक्षमद्वैतश्रुतिबाधक मुपपद्यते। (ख., चौ., पृ. 112)
16. स्वाश्रयेण च स्वस्मिन्तभेदभयाद्यदि स एव भेदो निविशते. तदाअअलाश्रय. । अन्यश्चेत्तिस्मिन्नेवं तस्मिन्नन्यन्य इत्यनवस्था। क्वचिदपि गत्वा भेद भेदाश्रययोर्भेदस्य अस्वीकारे च तद्वैक्यहारिका मूलपर्यन्तमेकत धावेत्। (ख , चौ , पृ 117)

फिर भेद - प्रत्यक्ष का कोई विषय ही न होने के कारण प्रत्यक्ष से अद्वैत-श्रुति का बाध नहीं हो सकता। अनुमानादि तो आगम की अपेक्षा दुर्बल ही है। अत वे तो आपके मत से भी अद्वैत श्रुति के बाधक नहीं हो सकते। अर्थापत्ति तो अद्वैत श्रुति के अनुकूल ही है, क्योंकि वह अर्थापत्ति रूप पत्ति (पैदल सेना) की परम्परा तो अद्वैतागमरूप विजिगीषु के आगे रहकर विरोधी प्रमाणों की अच्छी तरह निराकरण करती हुई अद्वैत श्रुति की सेवा का ही सम्पादन करती है।[17]

अगर माना जाय, नानात्व (भेद) के बिना "नाना पद श्रौतबुद्धि के कारण है' यह कार्यकारणभाव नहीं हो सकता और न कारण के बिना श्रौत-बुद्धि ही हो सकती है। इसलिये बाध्य बाधकभाव की चिन्ता व्यर्थ है, क्योंकि पट-पदार्थ का नानात्व श्रुति का उपजीव्य (कारण) है और श्रुतिज बुद्धि उसकी उपजीवक (कार्य) है। उपजीवक से उपजीव्य का बाध नहीं हो सकता, क्योंकि वह उपजीव्य से दुर्बल होता है।

श्री हर्ष इसके खण्डन मे कहते है, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक नानात्व श्रौत-बुद्धि का उपजीव्य है, अत. उस नानात्व का बाध न हो, किन्तु पारमार्थिक नानात्व तो उपजीव्य है नहीं, इसलिये श्रौत-अद्वैत-बुद्धि से पारमार्थिक नानात्व का बाध हो ही सकता है। व्यावहारिक नानात्व (भेद) तो हम भी मानते ही है और वही कार्य कारणभाव का उपयोग है।[18]

अविद्या से विद्यमान भेद के स्वीकार से, यह व्याघात (विरोध) भी प्रत्यादिष्ट हो गया। व्याघात भासता है कि (सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्) इस श्रुति में (एकमेव) इस एव शब्द से प्रलय में द्वैत का व्यवच्छेद (अभाव) कहा जाता है, और अद्वितीय पद से द्वितीय का अभाव कहा जाता है। वहाँ प्रतियोगी के बिना अभाव का कथन नहीं हो सकता। इसी

---

17. तदद्वैतश्रुतेस्तावद्बाध. प्रत्यक्षत· क्षत.। नानुमानादि तं कर्तु तवापि क्षमते मते।।
 अद्वैतागमनासीरे साधु स धुन्वती परान्। सेवामेवार्जयत्यर्था पत्तिपत्ति परम्परा।। (ख.चौ पृ ।18)

18. न वयं भेदस्य सर्वथैव असत्वमम्युगच्छाम.। किन्नाम, पारमार्थिकमसत्वम्। अविद्याविद्यमानत्वं तु तदीयमिष्यते एव, तदेव च कर्मकारणभावोपयोगी। (ख, चौ., पृ ।18)

प्रकार (नेह नानास्ति किञ्चन) इसी श्रुति मे नानात्व और बहुत्व का अभाव कहा जाता है। वह भी प्रतियोगी के बिना नहीं कहा जा सकता है। अत व्यच्छेद्य द्वितीय नानात्व और बहुत्व के बिना अनुपपद्यमान (भेद के बिना असिद्ध) किंचन से अद्वैतश्रुति का व्याघात (विरोध) होता है। अर्थात् व्यच्छेद्य अनेक से द्वितीय से, नानात्व से और बहुत्व के बिना अनुपपन्न इस किचन से व्याघात होता है। परन्तु व्यावहारिक भेद के स्वीकार से उसका अभाव हो जाता है। क्योंकि अद्वैत अर्थ वाली श्रुतियों से पारमार्थिक अद्वैत का प्रतिपादन किया जाता है, और पारमार्थिक ज्ञान अपारमार्थिक बुद्धि से बाध के योग्य नहीं हो सकती है। जिससे शुक्ति में रजतबुद्धि से परमार्थ शक्तिमति का बाध नहीं हो, अन्यथा शुक्ति बुद्धि का रजत बुद्धि से बाध होगा।

यदि कहा जाय कि पारमार्थिक बुद्धि से अपारमार्थिक बुद्धि का बाध होता है, तो उष्णत्वज्ञान के आश्रयण करने से उष्णत्व रूप प्रतियोगी के ज्ञान के बिना असिद्ध होने से जो अग्नि की अनुष्णता की बुद्धि का उष्णता के ज्ञान से बाध होता है वह नहीं होना चाहिये और यदि यहाँ उपजीव्य विरोध से बाध होता है तो श्रुति का भी बाध होना चाहिये। तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ उष्णत्व उपजीवन से अग्नि के अनुष्णत्व बुद्धि का उष्णत्व ज्ञान से बाध होता है। वहाँ दोनों ज्ञानों की अविद्या से विद्यमता होने के कारण वहाँ बाध होना युक्त है। व्यावहारिक से प्रतिभासिक का वहाँ बाध है, उपजीव्य विरोध मात्र से नहीं। अत श्रुति जन्य बोध का भी उपजीव्य विरोध से बाध नहीं होता।[19]

अगर कहा जाय जैसे श्रुति का विषय परमार्थ सत है, वैसे ही 'अग्नि अनुष्ण है' इस अनुमिति का विषय भी परमार्थ सत् क्यों न माना जाय तो यह उचित नहीं है, क्योंकि जल आदि में दृष्ट और शीतादि अव्यावृत्तरूप अनुष्णत्व व्यावहारिक ही है। अत प्रत्यक्ष से उसका बाध उचित ही है। यदि जलादि में अदृष्ट अनुष्णत्व का आप साधन करे, तो नामान्तर से वह अद्वैत का ही साथ होने से अभेद ही सिद्ध हुआ।

---

19. यत्र त्वग्निरनुष्ण इतिबुद्धेरुष्णज्ञानोपजीवनादुष्णबोधेनाअनुष्णबुद्धिबाधस्तत्र द्वयोरप्यविद्याविद्यमानत्वाद्बाधो युक्तः । (ख , चौ , पृ. 119)

अद्वैत (ब्रह्म) भी श्रुति-बोध का विषय है। अत उसमें भी मान-मेय-व्यवहार होने से उसका भी जगद्-बाधक युक्तियों से केवल (ग्रास) में प्रवेश क्यों न हों? इसके उत्तर मे श्री हर्ष कहे है कि अद्वैत स्वप्रकाश है। इसमे मान-मेय-भाव नहीं है। अत अद्वैत श्रौत बोध का विषय नहीं स्वरूप ही है। अद्वैत पारमार्थिक है। अत पारमार्थिक भेद का विरोधी है, अविद्या कल्पित भेद का नहीं। इसलिये अविद्या कल्पित भेद या उस भेद के बोध की उपजीवक श्रुति से उपजीव्य का बाध नहीं है।[20]

अगर कहा जाय अद्वैत बुद्धि भी अविद्या का ही कार्य है। अत शुक्ति रजत के तुल्य भेद प्रत्यक्ष से उसका बाध क्यों न हो तो यह उचित नहीं है। क्योंकि यद्यपि श्रुतिजन्य होती हुई भी अद्वैत बुद्धि अविद्या से विद्यमान स्वरूप वाली है। तथापि उसका विषय अद्वैत ब्रह्म परमार्थ सत्य ही है। और विषय के विरोध से उस अद्वैत बुद्धि की बाध्यता होगी। वह विषय निरोध नहीं है। अत अद्वैत बुद्धि का अन्य बुद्धि के समान बाध नही होता है। पारमार्थिक अद्वैत रूप शरण का अवलम्बन कर श्रुति उपजीव्य के बाध से किंचित् भी नही डरती, क्योंकि परमार्थत भेदघटित बाध्य-बाधकभाव है ही नहीं।

द्वैत के भय हेतुत्व को श्रुति भी कहती है कि द्वितीय से भय होता है। अगर कहा जाय कि 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से अद्वैत, 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति से ब्रह्म ओर 'विज्ञानामानन्द ब्रह्म' इस श्रुति से विज्ञान तथा आनन्द ज्ञात होते हैं। इनका परस्पर विरोध होने से अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है। यदि श्रुति प्रामाण्य से सभी को सिद्धि हो, तो अद्वैत की हानि हो जायेगी। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति से बोधित अद्वैत 'ब्रह्मवेद सर्वम्' इस श्रुति के साथ एकवाक्यतापन्न होकर ब्रह्मरूप ही है। इसी प्रकार 'विज्ञानमानद ब्रह्म' इस श्रुति की एकवाक्यता से विज्ञान आनन्द रूप ही व्यवस्थित होता है। शका होती है कि यदि ज्ञान स्वरूप अद्वैत ब्रह्म है, तो उस ज्ञान को श्रुति जन्यता कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि ऐसा कहना तब युक्त होता, जब उस स्थान को श्रुति से सत्य जन्यता (जन्म) भी होती, किन्तु अविद्या से ज्ञान की जन्यता व्यवस्थित है। वह पारमार्थिक अजन्यता से विरूद्ध नहीं होती है।[21] अर्थात् अन्त.करण की वृत्ति की उत्पत्ति होती है, जो ज्ञानस्वरूप का अभिव्यजक होती

---

20. अद्वैतं हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेन भेदेन बाध्येत नत्वविद्याविद्यमानेन, तस्मादविद्याव्यवस्थितं भेदं तद्बोधं चोपजीवन्त्या न परमाथद्वितबुद्धेरूपजीव्य बाध। - ख.चौ. पृ ।2।

21. अविद्याव्यवस्थिता तु तज्जन्यता न पारमार्थिकेनाज्ञन्यत्वेन विरूद्धते। (ख चौ पृ ।22)

है। अत. ज्ञान में जन्यता का व्यवहार होता है। वह अविद्या से होता है। अत. अद्वैत स्वरूप में कोई विरोध नहीं है। इसी से श्रुति में यह एक अद्वैत सिद्ध किया जाता है।

यदि कहा जाय 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति जन्य बोध मे ब्रह्म में विशेषण रूप से एकत्व भी भासता है। अत ब्रह्म में एकत्व को भी सिद्ध हुई, अब अद्वैत कैसे सिद्ध हुआ, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि श्रुति में एकत्वादि धर्मो से शून्य केवल धर्मोरूप अद्वैत ही सिद्ध होता है।

यदि उस धर्मी मे श्रुति से अभेदापरपर्याय भेदाभाव, एकत्वसंख्या, ज्ञान या कोई ही अन्य एकत्वरूप धर्मवत्व बोधित होता हो और वह अद्वैत का व्याघात होने से सिद्ध न हो रहा हो, तो एकत्वादि भी व्याघात न सहते हुये जन्यत्व के साथ ही निवृन्त हो जायेगा। जो उस अद्वैत - धर्म (एकत्व) का धर्मी रूप से बोधित हो, अबाध से ज्ञात वही परमार्थत व्यवस्थित होना चाहिये।[22]

इस प्रकार अनेक विकल्प मानकर श्री हर्ष ने भेद परक युक्तियों का खण्डन किया और कहा अद्वैत बुद्धि का अनेक कुतर्कों का अवलम्बन कर खण्डन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कठ श्रुतियों में भी लिखा है कि श्रुति से जायमान अद्वैत बुद्धि तर्क से खण्डनीय नहीं है।[23] भेद न सिद्ध हो सकने के कारण अद्वैत पूर्णत सिद्ध है।

--0--

---

22. यन्तु तादृशस्याद्वैतस्य धर्मस्य धर्मितया प्रमितं तन्मात्रमबाधादधिगतं परमार्थतो व्यवतिष्ठताम्। (ख , चौ , पृ 122)

23. नैषा तर्केण मतिरापनेया। (कठो 2/3)

अध्याय अष्टम

अद्वैत में प्रमाण का विवेचन

"नैषा तर्केण मतिरापनेया"

कठोप. 2/9

अद्वैत में क्या प्रमाण है? यह प्रश्न कि अद्वैत में क्या प्रमाण है, स्वय सिद्ध करता है कि अद्वैत है। श्री हर्ष अपने खण्डन खण्ड खाद्य के अद्वैत प्रकरण में ब्रह्म के लिये प्रमाण, पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि जो अद्वैत को स्वीकार नहीं करते, वे अद्वैत में क्या प्रमाण है? ऐसा प्रश्न ही नहीं कर सकते हैं।[1] उनका ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैत अज्ञात है। बिना उसे जाने कैसे प्रमाण दिया जा सकता है, क्योंकि प्रश्नवचन व्यवहार विशेष रूप है और व्यवहार ज्ञान से उत्पन्न होता है। अत वह व्यवहार स्वजनक ज्ञान के विषय से व्याप्त है। इसलिये अद्वैत मे प्रमाण प्रश्न पूछना ही अद्वैत की सन्ता सिद्ध करता है।

अद्वैत की सन्ता सिद्ध हो जाने के पश्चात् प्रमाण का प्रश्न उठता है। इसके उन्तर मे श्री हर्ष कहते हैं कि यदि प्रश्न का विषय अद्वैत ज्ञात हो तो वह ज्ञान भ्रम है या प्रमा? यदि प्रगा है तो जो प्रमा का कारण है, वही अद्वैत में प्रमाण है। यह मानना चाहिये। अत. प्रमाण प्रश्न ही व्यर्थ है। यदि अद्वैत प्रतीति अप्रमा है, तो प्रश्न का आशय यह हुआ कि अप्रमा के विषय अद्वैत में प्रमाण क्या है? किन्तु यह प्रश्न बाधित है, क्योंकि जो अप्रमा का विषय है, वह प्रमा का विषय कैसे हो सकता है।

प्रत्यक्ष तो ब्रह्म के सद्भाव का साधक माना नहीं जा सकता अन्यथा सभी को ब्रह्म का दर्शन होना चाहिये। ब्रह्म अतीन्द्रिय है, और अतीन्द्रिय पदार्थ का प्रत्यक्ष होता नहीं। अनुमान को भी प्रमाण नहीं कह सकते, कारण यह कि जहाँ साध्य का व्याप्य लिग रहता है वही अनुमान होता है। जैसे अग्नि का व्याप्य जो धूम है वही अग्नि का अनुगापक होता है। प्रकृति में ऐसा कोई भी ब्रह्म का व्याप्य लिंग नहीं है, जिससे ब्रह्म का अनुमान कर सके। उपमान आदि प्रमाण तो नियत विषय हैं, इसलिये उनकी तो शंका भी नहीं की जा सकती। श्री हर्ष का कथन है कि ब्रह्म सन्ता, गुणत्व, ज्ञानत्व आदि जड धर्मो के सम्बन्ध से प्रवृन्त वाक् व्यवहार का विषय नहीं हो सकता है। वे तत्व को तर्क बुद्धि के पकड़ से परे मानते है। मानवी बुद्धि और

---

1. प्रश्न एवं तावत् अद्वैत मनंगीकुर्वतो नोपपद्यते। (ख , अच्युत , पृ 47)

वाणी परमार्थ तक नहीं पहुँच सकती। [illegible] तुलसीदास के शब्दों मे कहा जा सकता है कि ब्रह्म को तर्क वाणी द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता है।[2]

श्री हर्ष की भांति ब्रैडले भी कहता है कि अंतिम सत् स्वयं विरोधी नहीं होता, इसके ऐकन्तिक होने का प्रमाण यह है कि चाहे इसे हम अस्वीकार करने का प्रयत्न करे अथवा इसके विषय मे संदेह करने का यत्न करें, हमको प्रत्येक अवस्था मे इसकी सत्यता को मूल रूप से मानना पडता है।[3]

अद्वैत की पूर्व कल्पना ऐसी है जो अपने से संबंधित सभी प्रश्नों में पूर्व कल्पना के रूप मे ही रहती है। वह उत्तर कभी नही बनती है।[4]

अद्वैत पूर्व कल्पना प्रमाणित नहीं की जा सकती है। अद्वैत की पूर्व कल्पनाये साध्य नहीं है। वे स्वत. सिद्ध होती हैं। वे भौतिक वस्तुओं की तरह सत्य अथव गलत सिद्ध नहीं की जा सकती हैं। जिस प्रकार भौतिक वस्तुयें प्रमाणित की जाती है। उस तरह परम तत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अद्वैत की पूर्व कल्पनायें कभी भी प्रतिपादित नहीं की जा सकती हैं। इसलिये श्री हर्ष घोषणा करते है, अद्वैत स्वत सिद्ध है।

श्री हर्ष द्वारा ब्रह्म के लिये प्रस्तुत प्रमाण

श्री हर्ष ब्रह्म के लिये प्रमाण देना स्वीकार नहीं करते है, क्योंकि स्वय उन्होंने प्रमाणों का खण्डन किया है। फिर वे अद्वैत ब्रह्म को मानते हैं, तो प्रश्न उठता है कि क्या श्री हर्ष अपने आप अद्वैती बन जाते हैं। क्या उनके पास कोई तर्क अपने अद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिये नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर श्री हर्ष निम्न प्रकार देते है -

---

2. मन समेत जेहि जान न बानीं। को कहि सकै तर्क अनुमानी।। रामचरित मानस, बालकाण्ड

3. आभास और सत्, पृष्ठ 109

4. An Absolute pre-supposition is one which stands relatively to all questions to which it is related, as a pre-supposition, never as an essay on metaphysics.
Appearance and Reality, p. 31.

1. स्वत. सिद्ध प्रमाण

श्री हर्ष कहते है कि ब्रह्म स्वत सिद्ध है। ब्रह्म स्वत प्रकाश है। 'प्रज्ञान ब्रह्म' को वे पूर्णतया स्वीकार करते हैं। विज्ञानमय ब्रह्म स्वप्रकाश है, क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश होता है।[5] ज्ञान सब मनुष्यों के अपने अनुभव से ही सिद्ध होता है। उसकी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। विज्ञान ब्रह्म होता है। अत ब्रह्म भी स्वप्रकाश है। वह स्वत. तेजमय है। उसको अन्य साधन या तेज की आवश्यकता नही होती है। वह सबके द्वारा नहीं जाना जा सकता है।[6]

श्री हर्ष की भांति चित्सुखाचार्य भी ब्रह्म को स्वत. सिद्ध मानते है। उन्होंने अपनी तत्व प्रदीपिका का आरम्भ ही स्वप्रकाश के निरूपण से किया है।[7] वे आत्मैव ब्रह्म मानते हैं और आत्मा को स्वप्रकाश मानते हैं। साथ ही स्वप्रकाशत्व को सिद्ध करने के लिये चिद्रूपत्व, अकर्मत्व और आत्मा के स्वप्रकाशत्व का विशद् विवेचन किया है। वे पहले स्वप्रकाशत्व के अन्य व्यक्तियों द्वारा किये गये लक्षणों की परीक्षा करते हैं और उनमे दोष दिखाते हैं। तत्पश्चात् अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है और स्वयं प्रकाश का उचित लक्षण निरूपित करते हैं। अवेद्य अर्थात् विषय रूप से अग्राह्य होते हुये भी जो अपरोक्ष व्यवहार के योग्य हो, वही स्वयं प्रकाश है। आत्मा अवेद्य है, क्योंकि वह सविकल्प बुद्धि का विषय नहीं है। अवेद्य, अग्राह्य अनिर्वचनीय, अज्ञेय, अज्ञात आदि इसलिये कहा जाता है, क्योंकि आत्मा मानवी सविकल्प बुद्धि द्वारा विषय रूप में नहीं जानी जा सकती। उसके ज्ञान के लिये विशुद्ध विज्ञान अर्थात् अपरोक्षानुभूति की आवश्यकता होती है। अपरोक्षानुभूति या स्वानुभूति द्वारा ही आत्म साक्षात्कार होता है। केवल आत्मा अर्थात् ब्रह्म ही अवेद्य और स्वानुभूत है और इसलिये केवल वही स्वप्रकाश है।

---

5. ज्ञानमपि स्वत एव सिद्धस्वरूपम्। (खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 40)

6. न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः। (वृहदा 3/4/2)

7. तत्व प्रदीपिका.

2. श्रुति प्रमाण :

श्री हर्ष अद्वैत मे श्रुति प्रमाण भी स्वीकार करते हैं। किन्तु यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ब्रह्म यदि वाणी का अगोचर है तो उसमें श्रुति कैसे प्रमाण्य हो सकती है ? जब श्री हर्ष का दावा है कि हम प्रमाणवाद लक्षण कुछ भी स्वीकार नहीं करते। वे सबका खण्डन करते है। तब वे श्रुति प्रमाण क्यों स्वीकार करते हैं? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि श्री हर्ष ने सविकल्पात्मक बुद्धि के विषयों का निराकरण किया है। उपरोक्त अनुभूति के विषय का नहीं। दूसरे वे कहीं भी किसी चीज को असत् नहीं कहते, बल्कि अनिर्वचनीय मानते है। वे तो स्वयं कहते हैं कि असत् की भी सत्ता तब तक है जब तक कि उसका निराकरण नहीं कर दिया जाता है। अतः व्यावहारिक स्तर पर खडे होकर ऐसा मानते हैं, अन्यथा वे तो स्वयं ब्रह्मानन्द का रसास्वाद करते हैं।

साथ ही श्री हर्ष यह भी कहते हैं, यद्यपि धर्म का संबंध न होने से ब्रह्म 'पद वाच्य' नहीं और योग्यता ज्ञान न होने से वाक्यार्थ भी नहीं है, तथापि जैसे देवदत्त के घर पर कौवे बैठे हैं, इस वाक्य में 'कौवे बैठे हैं' इस रूप से तृणाच्छन (छप्पर) का प्रतिपादन करते हैं वैसे ही श्रुति भी जगत्कर्तृत्व आदि विशेषणों को त्यागकर तात्पर्य बल से ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है। अत वाच्य-वाचक भाव से रहित उस ब्रह्म में अविद्या-दशा मे नैयायिक रीति से श्रुति प्रमाण है।[8]

यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्री हर्ष श्रुति प्रमाण का उल्लेख अविद्या दशा में ही स्वीकार कर रहे हैं। अर्थात् व्यावहारिक दशा में क्योंकि पारमार्थिक दशा मे उस निर्विकल्प ब्रह्म का ही प्रकाश रहता है। वहाँ पर अज्ञानता नाम की चीज की झलक तक की संभावना नहीं रहती है। वह अवस्था ज्ञान के पूर्णता की होती है। फिर वहाँ प्रमाण की क्या आवश्यकता है?

---

8. तदेतन्तु श्रुत्या प्रमाणेनोपलक्षणन्यात् तात्पर्यात् प्रकाश्यते। तेनं परमार्थतो अभिधानाभिधेयंभाव विरहे तात्पर्यत. श्रुतिस्तस्मिन्नविद्यादशायां पराभ्यु पगमरीत्या प्रमाण्यमित्युच्यते।
(ख , अच्युत, पृष्ठ 35)

इसके अलावा हमारा ध्यान खण्डन खण्ड खाद्य के प्रथम अध्याय के अद्वैत प्रकरण की ओर भी जाना आवश्यक है। जहाँ पर श्री हर्ष ने यह स्वीकार किया है कि हम श्रुतियों के प्रमाण तथा स्वत सिद्ध ब्रह्म की प्रतिपाक उपनिषदों के प्रामाण्य की सिद्धि तो ईश्वराभिसंधि नामक अपने अन्य ग्रंथ में करेंगे।[9] इस प्रकरण का विचार हम विशेष रूप से ईश्वराभिसंधि अध्याय मे करेंगे।

3 तर्क युक्ति प्रमाण .

श्री हर्ष की खण्डन युक्तियों का प्रयोजन स्पष्ट रूप से यह है कि वे द्वैत निवृत्ति द्वारा अद्वैत की सिद्धि में सहायक है। यथार्थत उन्होंने अद्वैत-सिद्धि के लिये ही खण्डन युक्तियाँ दी है।[10]

श्री हर्ष कहते है कि तत्व का निश्चय करने वाले परीक्षक को अवश्य ही इन खण्डन युक्तियों का आश्रयण करना चाहिये। क्योंकि जब तक खण्डन युक्तियों से परमत का खण्डन न हो, साथ ही द्वैत निवृत्ति न हो जाय। तब तक तत्व का निश्चय हो ही नहीं सकता।[11] अत. उन्होंने अपने खण्डन खण्ड खाद्य मे अद्वैत प्रतिपादक उपनिषदों के मूलमत्र नेति नेति का ही विस्तृत प्रकाशन किया है। उन्होंने सम्पूर्ण द्रव्य गुणों को नेति-नेति कहकर अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने सविकल्प बुद्धि और उसकी सारी कोटियों और कल्पनाओं की बडी सूक्ष्म, गहन, विस्तृत एव मार्मिक विवेचना करके उनकी असहायकता तथा विफलता का प्रकाशन करते हैं ओर आत्म साक्षात्कार योग्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं।

ब्रह्म अवाङ्गमनसगोचर है। ब्रह्म और प्रपंच दोनों अनिर्वचनीय है। श्री हर्ष का अपना कोई पक्ष नहीं है। वे कोई लक्षण नही प्रस्तुत करते और लक्षण बतलाना संभव भी नही

---

9. श्रुति प्रमाण्यं सिद्धार्थप्रमाण्यं चेश्वराभिसंन्धौ साधयिष्यते। (ख., अच्युत, पृ. 50)

10. अभीष्ठसिद्धावपि खण्डनानां ------ योजयध्वम्। (ख , अच्युत, पृ. 82)

11. वस्तुस्थितिं कुर्वाणेनं च विचारकेणावश्यमेता युक्तय उद्धरणीया अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति वादेअपि प्रयोग संभवत्येव खण्डन युक्तीनाम्। (ख., अच्युत, पृ 85)

है, क्योंकि वे लक्षण मात्र को मिथ्या बतलाते है । ब्रह्म के लिये निर्वचन की कोई आवश्यकता नहीं है । क्योंकि वह स्वत सिद्ध आत्म स्वरूप है । उसे अनिर्वचनीय कहने का अर्थ है कि उसके विषय मे कहे गये सम्पूर्ण विवेचन अपूर्ण रह जाते है । वह सविकल्प बुद्धि द्वारा विषय रूप से व्यावहारिक नहीं हो सकता, क्योंकि वह ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान की व्यावहारिक त्रिपुटी से परे है । उसके जानने के लिये उसका स्वरूप होना पड़ता है । स्वयं प्रकाश और स्वयं सिद्ध होने के कारण उसका निर्वचन करना उतना ही व्यर्थ है जितना दीपक द्वारा सूर्य को प्रकाशित करने की चेष्टा करना ।

ठीक इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक हरबर्ट ब्रैडले के भी विचार है । उनका प्रमुख तार्किक सिद्धान्त है कि हर निषेध का कुछ स्वीकारात्मक आधार होता है । इस सिद्धान्त के आधार पर ब्रैडले ने पहले संबधात्मक और गुणात्मक संसार को आभास मात्र सिद्ध करके उसका खण्डन किया और फिर उसी सिद्धान्त के सहारे स्वीकारात्मक पक्ष की भी उद्‌भावना की। उनका कथन है कि नकारात्मक निर्णयों से कुछ स्वीकारात्मक तथ्य या संकेत मिलता है । उनका कथन है कि विचार करना ही विवेचन करना है, विवेचन करना ही आलोचना करना है और आलोचना करना ही सत्य का कोई मापदंड प्रयोग करना।[12]

इस तरह श्री हर्ष खण्डनात्मक पद्धति के द्वारा परम तत्व तक पहुँचना चाहते हैं । उन्होंने अपनी पुरानी परम्पराओं का बंधन तोडकर दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। अब तक प्रचलित विचारधाराओं का उन्होंने रूढिगत अनुगमन नहीं किया । अपितु स्वय तत्व तक पहुँचने का नया मार्ग खोज निकाला । उन्होंने संसार के सब पदार्थो को लक्षण विहीन बताकर मिथ्या सिद्ध कर दिया और कहा कि यथार्थत्व अयथार्थत्व ये दोनों कोटियाँ परस्पर विरूद्ध हैं। अत एक कोटि के न होने पर अन्य द्वितीय कोटि की ही प्राप्ति होती है।[13]

---

12. Appearence and Reality, page 120.

13 व्यभिचारिविषयमव्यभिचारिविषयं व तदिति विकल्पाभ्यां तस्यपि ग्रस्तत्वात् परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तर स्थिति ।

(खण्डन अच्युत., पृष्ठ 420)

वस्तुत सभी सार्थक निषेधों का अभिप्राय किसी निश्चयात्मक आधार पर खडे होकर अन्य सबका अपवर्जन करना मात्र होता है। जब तक हमे निश्चय रूप से पता न हो कि 'अ' का 'ब' होना किसी तरह भी सभव नहीं है। और 'अ' का अस्तित्व 'ब' के अस्तित्व से असंगत तथा असंभाव्य है। अर्थात् इस प्रकार की सभावना को वह अपवर्जित करता है, तब तक हम कभी घोषित नहीं कर सकते कि 'अ' 'ब' नहीं है।[14] ऐसी घोषणा हम 'ब' के विषय मे निषेधात्मक पक्की सूचना पाकर ही कर सकते हैं। 'अ' 'ब' है। एतद्विषयक हमारा अज्ञान अथवा ऐसा कह सकने के लिये पर्याप्त आधार खोज सकने की हमारी असमर्थता मात्र कभी भी हमें ऐसा कह सकने के लिये किसी प्रकार का तर्कशास्त्रीय समाश्वासन प्रदान नहीं करती कि स्वय 'अ' 'ब' नहीं है, अर्थात् हम सही तौर पर यह तब तक नहीं कह सकते कि 'अ' 'ब' नहीं है। जब तक कि हमारे पास ऐसा कोई सत्य आधार न हो जिसका 'अ' को 'ब' बताने से व्याघात होता हो। अत वास्तविकता कभी आत्मव्याघाती नहीं होती है।

इसीलिये श्री हर्ष खण्डनात्मक पद्धति के द्वारा जगत को मिथ्या सिद्ध कर परम तत्व तक पहुँचना चाहते हैं। वे अद्वैत के विषय में मण्डनात्मक विचार कुछ भी नहीं कहते और कहते भी कैसे वह तर्क बुद्धि के द्वारा नहीं ग्रहण किया जा सकता है।[15] ब्रह्म अनिर्वचनीय है, क्योंकि विषय में कहे गये सम्पूर्ण निर्वचन अपूर्ण रह जाते है। यहाँ प्रश्न यह उठता है जब वह अनिर्वचनीय है, अदृष्ट है तो उसका विचार करना ही व्यर्थ है। यहाँ पर श्री हर्ष इसका उत्तर देते हुये कुमारिल भट्ट के कथन का भी उल्लेख करते हैं कि प्रमाण रहने पर लोक मे अदृष्ट भी बहुत सी वस्तुओं का स्वीकार किया जाता है।[16]

अत. स्वत सिद्ध एवं श्रुतियों के प्रमाण स्वरूप होने पर अद्वैत का निराकरण नहीं किया जा सकता है। वास्तव में अद्वैत ही परम तत्व है, उसके अलावा कुछ भी सत् नही है। उसी एक की सत्ता है, वही परम सत्ता है।[17]

---

14. "एसेंशियल्स आफ लाजिक व्याख्यान" स. 8।
15 नैषा तर्केण मतिरापनेया। (कठोप. --- 2/9)
16. प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि (खण्डन पृष्ठ 41), अच्युत.
17. एकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य उप , 6/2/1.

श्री हर्ष की भाँति ही शून्यवाद में भी परमतत्व की सत्ता स्वीकार की जाती है। वह भी परम तत्व को विज्ञान स्वरूप मानता है। शून्यवाद में भी तत्व का स्पष्टीकरण करने की अपेक्षा प्रपंच का खण्डन ही विशेष रूप से किया है। नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति श्रीहर्ष से बहुत अधिक साम्य रखते है। स्वय नागार्जुन तत्व की सत्ता स्वीकार कर उसका लक्षण स्पष्ट करते है, जो विशुद्ध ज्ञान द्वारा अपरोक्षानुभूति से साक्षात् किया जा सके। जहाँ सापेक्ष बुद्धि की समस्त कोटियाँ और धारणाये संतुष्ट होकर शान्त हो जायें, जो सम्पूर्ण प्रपंच से शून्य हो, जहाँ मानवी बुद्धि के सारे विकल्प तर्क, वितर्क, विचार, सदेह आदि विलीन हो जाये जो अद्वयरूप विशुद्ध ज्ञान स्वरूप हो वही 'तत्व' है।[18]

अतएव अद्वैत के विषय मे श्री हर्ष का खण्डनात्मक युक्तियों को स्वीकार करना उचित ही था। उन्होंने यहाँ तर्क दिया कि एक अद्वैत ब्रह्म रूप अस्त्र को अर्थात् अभेदरूप युक्ति को ग्रहण कर सग्राम (शस्त्रार्थ) रूप क्रीडा मे अन्य भेद वादियों को गणना न करने वाले, धीर-वीर अद्वैतवादी का भग (पराजय) कदापि नहीं हो सकता है।[19] इस तरह श्री हर्ष अपने इन तर्क युक्तियों के द्वारा द्वैत का खण्डन कर अद्वैत की स्थापना का सबसे बडा प्रमाण उपस्थित किया। वे कहते है कि किसी को असत् कहने के लिये सत् की आवश्यकता पडती है। अत अद्वैत को परग तत्व गानकर नेति-नेति द्वारा सम्पूर्ण लक्षणों को बाधित सिद्ध कर दिया।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से हम देखते है कि श्री हर्ष ने मौलिक ढग से अद्वैत का प्रतिपादन किया। उन्होंने जो खण्डनात्मक तर्क पद्धति के द्वारा अपने सिद्धान्त को आगे बढाया, उचित ही है। क्योंकि उस निर्विकल्प अद्वैत के विषय मे नेति-नेति के अलावा और कुछ कहा ही नहीं जा सकता है।

हम सम्पूर्ण अद्वैत दर्शन के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो सब जगत "मौनं स्वीकार लक्षणम्" ही पाते हैं। यह नहीं है, वह नहीं है, के अलावा अद्वैत के विषय में कुछ भी नहीं प्राप्त होता है। अतएव श्री हर्ष का विवेचन अद्वैत प्रमाण के विषय मे पूर्णतया उचित ही ठहरता है।

---

18. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपन्चैरप्रपंचितम्। निर्विकल्पमनानार्थमतत् तत्वस्य लक्षणम्।।
-- माध्यमिक कारिका 18/9

19 एक ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयत .. .. । खण्डन, अच्युत पृष्ठ 64.

कुछ विचारकों के मन मे ऐसी धारणा हो सकती है कि श्री हर्ष ने केवल वादि-विजय के लिये खण्डनात्मक पद्धति अपनाई है। सब द्रव्य, गुणों, लक्षणों का खण्डन कर अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा थी, किन्तु ऐसी कल्पना करना एक महान अद्वैत दार्शनिक के प्रति घोर अन्याय करना होगा। साथ ही अपनी एकांगी बुद्धि का परिचय भी देना होगा। श्री हर्ष निरूद्देश्य, निराधार कदापि 'नेति-नेति' ही नहीं बकते रहे। उनका निषेध सार्थकता लिये हुये था। जैसा आधुनिक दार्शनिकों का भी मत है कि सभी सार्थक निषेध का अभिप्राय वास्तव मे किसी निश्चयात्मक आधार पर खड़े होकर अन्य सबका अपवर्जन करना मात्र होता है। ठीक इसी प्रकार श्री हर्ष के विषय में भी कहा जा सकता है। उनका आधार केन्द्र विन्दु अद्वैत था। अत हम इस प्रकार कह सकते हैं कि उनका सारा खण्डन खण्ड खाद्य ही अद्वैतवाद का सबसे बडा प्रमाण है।

श्री हर्ष आगे कहते है कि तत्व का निश्चय करने वाले परीक्षकों को तो अवश्य ही इन खण्डन युक्तियों का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि जब तक खण्डन युक्तियों से परमत का खण्डन न हो, तब तक तत्व का निश्चय हो ही नहीं सकता।[20]

श्री हर्ष ने अपने खण्डन में अद्वैत प्रतिपादक उपनिषदों के मूल मत्र 'नेति-नेति' का ही विस्तृत प्रकाशन किया है। उन्होंने सम्पूर्ण द्रव्य गुणों को नेति-नेति कहकर ब्रह्म का ही तो प्रतिपादन किया है। यह एक दृष्टात द्वारा विशेष स्पष्ट हो जायेगा जिसे कोई नवोढ़ा पत्नी अन्य स्त्रियों द्वारा पूछे जाने पर कि इस सभा मे तुम्हारा पति कोन है? और वे एक क्रग से पीली पगड़ी वाला है, हरी पगड़ी वाला है, नीली पगड़ी वाला है आदि कहने पर नकारात्मक सिर हिलाती चली जाती है और अन्त में क्या वह लाल पगडी वाला तुम्हारा पति है, के कहने पर चुपचाप शान्त रहना ही उसके पति का परिचायक मान लिया जाता है। ठीक उसी प्रकार श्री हर्ष अपने सम्पूर्ण खण्डन खण्ड खाद्य में नेति नेति का उद्घोष कर ब्रह्म का प्रतिपादन किया है।

---

20. वस्तुस्थिति कुर्वाणेन च विचारकेणावश्यमेता युक्तय उद्धरणीया। अन्यथा वस्तुस्थितेरशक्यत्वादिति वादेऽपि प्रयोग संभवत्येव खण्डनयुक्तीनाम्।।

- खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 85

यूरोप के एक बडे दार्शनिक स्पिनोजा का भी सिद्धान्त है प्रत्येक विशेषण का अर्थ है निषेध।

ब्रह्म अवागमनसगोचर है। अद्वैत न केवल प्रत्यक्ष द्वारा अबाधित है किन्तु अनुमान आदि युक्ति से भी अवाध्य है, क्योंकि उसका खण्डन कल्पनातीत है।

इसी प्रकार ब्रैडले भी सम्पूर्ण भौतिक सत्ता को आभास कह कर उसका खण्डन करता है और फिर परम तत्व का मण्डन करता है। वह कहता है विचार करना ही विवेचन करना है, विवेचन करना ही आलोचना करना है, और आलोचना करना ही सम्य का कोई मापदण्ड प्रयोग करना है।[21]

ठीक इसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिक हरबर्ट ब्रैडले (1846) के भी विचार हैं। उनका प्रमुख तार्किक सिद्धान्त यह है "हर निषेध का कुछ स्वीकारात्मक आधार होता है"। इस सिद्धान्त के आधार पर ब्रैडले ने पहले संबंधात्मक और गुणात्मक ससार को आभास मात्र सिद्ध करके उसका खण्डन किया और फिर उसी सिद्धान्त के सहारे स्वीकारात्मक पक्ष की भी उद्‌भावना की। उनका कथन है कि नकारात्मक निर्णयों से कुछ स्वीकारात्मक तथ्य या सकेत मिलते है।

श्री हर्ष खण्डनात्मक पद्धति के द्वारा परम तत्व तक पहुँचना चाहते है। उन्होंने पुरानी परम्पराओं का बधन तोड़कर दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। अब तक प्रचलित विचारधाराओं का उन्होंने रूढिगत अनुगमन नहीं किया, अपितु स्वय तत्व तक पहुँचने का नया मार्ग खोज निकाला। उनका कथन है कि यथार्थत्व अयथार्थत्व ये दोनों कोटियाँ परस्पर विरूद्ध है। अत एक कोटि के न होने पर अन्य द्वितीय कोटि की ही प्राप्ति होती है। दोनों से अन्य तृतीय कोटि की प्राप्ति नहीं होती है।[22] इस प्रकार श्री हर्ष प्रपंचात्मक जगत का खण्डन कर ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। यह खण्डनकार की अपनी सूझ तथा विशेषता है। श्री हर्ष कुमारिल भट्ट के इस कथन का भी उल्लेख करते हैं कि ---- प्रमाण रहने

---

21 आभास और सत्, पृष्ठ 120

22 व्यभिचारीविषयमव्यभिचारिविषयं वा तदिति विकल्पाभ्यां तस्यापि ग्रस्तत्वात् परस्पर विरोधे हि न प्रकारान्तर· स्थिति। (खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 420)

पर लोक मे अदृष्ट भी बहुत सी वस्तुओं का स्वीकार किया जाता है।[23] यहाँ पर श्री हर्ष का सकेत ब्रह्म की ओर है। वे स्वत सिद्ध एव श्रुतियों का संकेत कर ब्रह्मवाद का मण्डन करते है।

श्री हर्ष की भाँति ही शून्यवाद परम 'तत्व' की सत्ता स्वीकार करता है और इस तत्व को विशुद्ध विज्ञान स्वरूप मानता है। शून्यवाद ने भी तत्व का स्पष्टीकरण करने की अपेक्षा प्रपच का खण्डन ही विशेष रूप से किया है। नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति श्री हर्ष से बहुत अधिक विचार साम्य रखते हैं।

श्री हर्ष ने स्वय कहा है, एक अद्वैत ब्रह्म रूप अस्त्र को अर्थात् अभेदरूप युक्ति को ग्रहण कर सग्राम (शस्त्रार्थ) रूप क्रीडा में अन्य भेदवादियों की गणना न करने वाले, धीर-वीर अद्वैतवादी का भंग (पराजय) कदापि नहीं हो सकता।[24] अर्थात् श्री हर्ष अपने इन तर्क युक्तियों के द्वारा द्वैत का खण्डन कर अद्वैत की स्थापना का सबसे बडा प्रमाण उपस्थित किया। वे कहते हैं कि किसी को असत् कहने के लिये सत् की आवश्यकता पड़ती है। उन्होंने नेति-नेति द्वारा सम्पूर्ण लक्षण प्रासाद को ढहा दिया।

कुछ लोगों के विचार मे ऐसा कहा जा सकता है कि श्री हर्ष ने केवल विजय के लिये खण्डनात्मक पद्धति अपनाई है। सब द्रव्यों, लक्षणों का खण्डन कर अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा थी, किन्तु ऐसी कल्पना करना एक महान अद्वैत दार्शनिक के प्रति घोर अन्याय करना होगा। साथ ही अपनी एकागी बुद्धि का परिचय भी देना मात्र होगा।

श्री हर्ष निरूद्देश्य, निराधार कदापि नेति-नेति ही नहीं बकते रहे। उनका निषेध सार्थकता लिये हुये था। जैसा आधुनिक दार्शनिक का भी मत है कि सभी सार्थक निषेध का अभिप्राय वास्तव मे किसी निश्चयात्मक आधार पर खड़े होकर अन्य सबका अपवर्जन करना मात्र होता है।[25]

---

23. प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि (खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 41)

24. एक ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयत (खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 64)

25 'एसेंशियल्स आफ लाजिक' व्याख्यान संख्या 8। -------- बोसांक्ये।

ठीक इसी प्रकार श्री हर्ष के विषय में भी कहा जा सकता है । उनका आधार केन्द्र बिन्दु अद्वैत था । अतएव हम कह सकते है कि उनका सारा खण्डन खण्ड खाद्य ही अद्वैतवाद का सबसे बडा प्रमाण है ।

--0--

अध्याय नवम

श्री हर्ष तथा अन्य दर्शन

"द्वितीयाद्धै भयं भवति"

वृहदा. उप. 1/4/2

श्री हर्ष तथा अन्य दर्शन

(क) खण्डन खण्ड खाद्य तथा अन्य दर्शन

1. श्री हर्ष तथा बौद्ध दर्शन :

बुद्ध मतानुयायियों ने जगत को शून्य जागतिक वस्तुओं को नि स्वभाव, क्षणिक तथा आत्मा एव ईश्वर की सत्ता से परे बताया। अतएव नैयायिक विद्वानों ने 'लक्षणप्रमाणाभ्या वस्तुसिद्धि ' सिद्वान्त के द्वारा बौद्धिक दार्शनिकों को गलत साबित किया। कुछ समय पश्चात् नैयायिकों ने अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर अद्वैत वेदान्त पर भी प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। आपस मे यह सघर्ष काफी समय तक चलता रहा।

श्री हर्ष ने नैयायिक दार्शनिकों के मत खण्डन के लिये खण्डन खण्ड खाद्य की रचना की। इस ग्रथ में श्री हर्ष ने नैयायिकों के एक एक लक्षण तथा प्रमाणों का खण्डन कर सकल सासारिक पदार्थों को अनिर्वचनीय घोषित किया। नैयायिकों का खण्डन करते समय श्री हर्ष की शैली बौद्ध दार्शनिकों द्वारा अपनाई गई शैली से बहुत समता रखती है। जैसा बौद्ध अनुयायी सब लक्षणों का केवल खण्डन ही खण्डन करते थे। वैसे ही श्री हर्ष ने भी खण्डन खण्ड खाद्य में प्रमाणों एवं लक्षणों के खण्डन के अलावा मण्डनात्मक एक भी शब्द नहीं लिखा। अनिर्वचनीयता सर्वस्व ही उनका खण्डन में मुख्य सिद्धान्त रहा। यहाँ पर बौद्धिकों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। श्री हर्ष एक स्थान पर 'बुद्धया विवेचितानां तु '[1] उद्धरण देकर अपने मत को आगे बढाते है।

श्री हर्ष जगत को शून्य न कह कर प्रपंच कहते हैं। श्री हर्ष तथा बौद्ध दार्शनिकों का विचार प्राय थोड़े अन्तर के साथ एक सा लगता है। अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये श्री हर्ष ने अपने पूर्ववर्ती बौद्ध दार्शनिकों का पथ अपनाया है। श्री हर्ष उच्च कोटि के अद्वैतवादी होते हुये भी यह स्वीकार करने में तनिक भी हिचक नहीं करते हैं कि शून्यवादी या माध्यमिक के मत का खण्डन नहीं हो सकता है क्योंकि जहाँ तक जगत के प्रपंचात्मक स्वरूप का प्रश्न है शून्यवादी तथा अद्वैतवादी के मत में कोई अन्तर नहीं है।

---

1. खण्डन खण्ड खाद्य, अच्युत,त पृष्ठ 42.

श्री हर्ष शून्यवाद से इतना घनिष्ठ सम्पर्क स्वयं दिखाते हैं कि उन पर स्पष्टतया बौद्ध प्रभाव झलकने लगता है। वे कहते हैं अद्वैतवादियों के समान शून्यवादियों का भी अपना कोई मत स्थापन करना नहीं है। केवल पर मत का ही खण्डन करना है और परमत के खण्डन में खण्डन युक्तियों सार्वपथीन (वेरोक) है। यदि शून्यवाद या अनिर्वचनीयवाद का आश्रयण किया जाय तो इन खण्डन युक्तियों का सर्वत्र उपकार निर्बाध है।[2]

दोनों मतों में खण्डनात्मक पद्धति ही अपनाई गई है। दोनों परमत का खण्डन करते हैं। स्वय का मत कुछ भी प्रतिपादित नहीं करते हैं। यहाँ पर श्री हर्ष के ऊपर स्पष्ट छाप दीख पडती है। नागार्जुन कहते हैं हम न खण्डन करते हैं न मण्डन। न हमारी कोई प्रतिज्ञा है न प्रमाण। यह कथन भी कि 'शून्यवादी प्रत्येक वस्तु का प्रतिषेध करता है' परकीय रीति द्वारा ही संभव है। हम तो खण्डन मण्डनातीति अद्वय शिवतत्व में सदा लीन रहते हैं।[3] ठीक इसी तरह श्री हर्ष कहते हैं ---- हमारा अपना कोई पक्ष नही, हमारा अपना कोई मत नहीं, किसी वाद की पुष्टि भी हम नहीं करते। बुद्धि के समस्त विकल्पों को मृषा कहने वाले कैसे ऐसा कर सकते हैं? हम प्रपंच की अनिर्वचनीयता को अपना पक्ष मानकर उसकी पुष्टि नहीं करते। हमारा यह कथन कि 'समस्त विश्व प्रपच सदसदनिर्वचनीय और मिथ्या है' परकीय रीति से है, हमारे प्रति पक्षी के दृष्टिकोण से है। वस्तुत हम तो चरितार्थ होकर सुखपूर्वक सब प्रपंच के झंझटों से ऊपर उठकर व्यवहार दशा को पारकर, स्वत सिद्ध स्वप्रकाश विशुद्ध विज्ञान रूप ब्रह्मानद मे लीन रहते हैं।[4]

बौद्ध दार्शनिक श्री नागार्जुन के बहुत कुछ दार्शनिक विचार श्री हर्ष पर स्पष्ट दिखाई पडते हैं। अनेक पाश्चात्य एव पौरस्त विद्वानों के अनुसार बौद्ध दार्शनिक नस्तिक हैं। किन्तु स्वयं श्री नागार्जुन रत्नावली मे कहते है नास्तिक दुर्गति को प्राप्त होता है। किन्तु

---

2. यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोराश्रयणम्, तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपथीनता। (खं अ पृ.83)

3 प्रतिषेधायामि नाहं किंचित् प्रतिषेध्यमस्ति न च किंचित्।
तस्मात् प्रतिषेधयसीत्यधिलय एव त्वया क्रियते।। (बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृष्ठ 57)

4 ततः परकीयरीत्येदमुच्यते -- अनिर्वचनीयत्वं विश्वस्य पर्यवस्यतीति।
वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपन्चसत्वासत्वव्यवस्थापनविनिवृत्ता स्वत सिद्वे चिदात्मनि ब्रह्मतत्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्था. सुखमास्महे। (खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 45)

यथार्थज्ञाननिष्ठ अद्वयमतावलम्बी शून्यवादी ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[5] यहाँ पर श्री हर्ष के विषय मे डॉ राधाकृष्णन कहते है --- "यदि हम श्री हर्ष के समान एव अद्वैत वेदान्ती को ले तो हम देखते हैं कि उसने माध्यमिकों की कल्पना को ही विकसित करने की अपेक्षा और अधिक कुछ नहीं किया तथा जिन श्रेणियों का आश्रय लेकर चलते है उनके परस्पर विरोध को प्रकट किया है, जैसे कि कारण और कार्य, पदार्थ और उनके गुण साथ ही में इस आधार पर वस्तुओं की यथार्थता का भी निषेध किया है। श्री हर्ष के खण्डन के अनुसार वस्तुये अनिर्वचनीय है। अर्थात् उनका वर्णन ठीक-ठीक नहीं हो सकता। 'माध्यमिक वृत्ति' के अनुसार वे नि·स्वभाव है, अर्थात् सारहीन हैं। वस्तुत व्याख्या के योग्य न होना अथवा स्वरूप विहीन होना एक ही बात है। अदृश्य के प्रति जो बुद्धि की भावना है, उसके साथ निश्चयात्मक परमार्थतत्व के विषय मे नागार्जुन कुछ अधिक नहीं कहते, यद्यपि वह इसकी यथार्थता को स्वीकार करते है। अपने निषेधात्मक तर्क के द्वारा जो अनुभव को केवल प्रतीति मात्र बतलाता है, वह अद्वैत दर्शन की ही भूमिका तैयार करता है।"[6]

श्री हर्ष कहते हैं हम व्यवहार तो स्वीकार करते है क्योंकि उसी का तो हम खण्डन करेगे, क्योंकि उसी के खण्डन से तो अद्वैत सिद्धि होगी। अगर व्यवहार न हो तो अकेले अद्वैत बचता है, जिसके खण्डन की कोई आवश्यकता नहीं। वह तो बुद्धि से परे है, उसका खण्डन नहीं किया जा सकता है।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि व्यवहार का ही क्यों खण्डन किया जाता है? इसका बडा सुन्दर उत्तर नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव देते हैं। वे कहते है "म्लेच्छ को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा का ही प्रयोग करना चाहिये। वह अन्य भाषा के द्वारा नहीं समझ सकता है। ठीक उसी तरह लोगों को तत्वोपदेश देने के लिये लौकिक भाषा का ही व्यवहार खण्डन के द्वारा ही तत्वबोध कराया जाता है,[7] इसको विशेष स्पष्ट करते हुये

---

5 नास्तिको दुर्गतिं याति सुगतिं याति चास्तिक·।
यथाभूतपरिज्ञानान्मोक्षमद्वयनिश्चित ।। (रत्नावली 1/57)

6 भारतीय दर्शन डॉ राधाकृष्णन पृष्ठ 613-14

7 नान्यथा भाषा म्लेच्छ शक्यो ग्राहयितुं यथां। न लौकिक मृते लोक शक्यो ग्राहयितु तथा।।
(बौद्ध दर्शन और वेदान्त, पृष्ठ 60)

श्री हर्ष कहते है ---- क्योंकि विधि या निषेध इन दोनों में से एक के खण्डन से अन्य की सिद्धि होती है।[8] अतः जब व्यवहार का खण्डन हो जायेगा तो अद्वैत तत्व की प्राप्ति ही निश्चित है।

खण्डनखण्ड खाद्य मे उद्धृत अनेक दर्शनों का विवरण निम्नवत् है -

श्री हर्ष और बौद्ध मत

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री धर्म कीर्ति (प्रमाणवार्तिक)	'अप्रत्यक्षोपलभ्यस्य नार्थदृष्टि प्रसिद्धयतीति (जो परीक्षक उपलभ्य (ज्ञान) का ज्ञान नहीं मानते, उनके मत में अर्थ ही सिद्ध न होगा)	स्वप्रकाश-विचार	जो ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानते है, उनके मत मे अनवस्था स्पष्ट है। (अपने मत की पुष्टि मे यह उद्धरण देते हैं)
श्री धर्म कीर्ति (प्रमाणवार्तिक)	नहि शास्त्राश्रया वादा भवन्तीति नापसिद्धान्तो निग्रहाधिकरणमिति। (अपने अपने शास्त्रों का आश्रयण कर वाद नही होता है। इसलिये अप सिद्धान्त निग्रह का अधिकरण (स्थान) ही नहीं है)	अपसिद्धान्त-लक्षण का खण्डन।	अपसिद्धान्त सिद्ध ही नहीं हो हो सकता। कोई सिद्धान्त किसी का अपना सिद्धान्त नहीं होता है। आरम्भ से रीते-जन्मे व्यक्ति को वाद में सिद्धान्त विशेष में रोकना भी दुर्गति है। (अपने मत की पुष्टि में यह उद्धरण देते हैं)

8. विधिनिषेधयोरेकतरनिरासस्य इतरपर्यवसायितायास्तेनाभ्युपगमत्। (खण्डन, पृ. 44)

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री धर्म कीर्ति (प्रमाणवार्तिक)	प्रमाणमवि सवादिज्ञानमर्थक्रियास्थिति श्चाविसंवाद ।	अविसंवादित्व का खण्डन।	(धर्म कीर्ति के इस प्रमा लक्षण का श्री हर्ष खण्डन कर देते हैं) यदि अर्थ क्रियाकारित्व सामान्य रूप से अभिप्रेत हो, तो शुक्ति रूप से अर्थ क्रियाकारित्व भ्रम मे भी है । अत. भ्रम मे अतिव्याप्ति हो जायेगी।
श्री प्रज्ञाकर गुप्त (प्रमाणवार्ति कालकार)	अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरूद्धधर्माध्यास करणभेदश्चेति। (जो विरूद्ध धर्म का अवस्थान या कारण का भेद है, वही भेद है या भेद का हेतु है)	भावाभाव विरोध का खण्डन	भाव-अभाव का स्वरूप ही विरोध है । यह विरोध किनका है ---अपने आश्रय का है और विरोध का फल क्या है ? --- भेद की व्यवस्था इसी के समर्थन मे वादी प्रज्ञाकर का यह लक्षण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु श्री हर्ष इसका खण्डन कर देते हैं ---- यह मत भी युक्त नहीं।
श्री बुद्ध देव (लंकावतार सूत्र)	बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावोनावधार्यते। अतो निरभिलप्यास्ते नि.स्वभावाश्च देशिता ।। (बुद्धि से विचारने पर वस्तु के स्वभाव निश्चित नहीं होते। अत. सम्पूर्ण वस्तुयें स्वभाव से रहित और अनिर्वचनीय हैं)	शून्यवाद और स्वप्रकाश विज्ञानवाद का भेद।	श्री हर्ष यहाँ शून्यवाद और वेदान्तियों में भेद का विवेचन करते हैं। वेदान्ती विज्ञान से भिन्न सब वस्तुयें सत्-असत् से विलक्षण मानते हैं।

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
सौगत	रिक्तस्यजन्तोर्जातस्य गुणदोषमपश्यत / विलब्धा बत केनामी सिद्धान्त विषयग्रहा ।।	अपसिद्धान्त-लक्षण का खण्डन	श्री हर्ष अपने सिद्धान्त की पुष्टि मे यह उद्धरण देते हैं।

श्री हर्ष तथा मीमांसा दर्शन

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री कुमारिल भट्ट (तत्रवार्तिक 2/1/5)	'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि'	स्वप्रकाश-विज्ञानवाद विचार।	श्री हर्ष कुमारिल का यह उद्धरण अपने मत की पुष्टि में देते है। प्रमाण रहने पर लोक मे अदृष्ट भी बहुत सी वस्तुओं का स्वीकार किया जाता है।
श्री कुमारिल भट्ट (श्लोकवार्तिक सू 2 का 6)	अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे	अद्वैत में प्रमाण विचार	श्री हर्ष अपने मत की पुष्टि में यह अंश उद्धृत करते है। अद्वैत में स्वत प्रामाण्य की सिद्धि में कहते हैं कि अद्वैत स्वत प्रामाण्य सिद्ध हुआ। असंसर्गग्रह के मानने वाले मीमांसक भी अबाधस्थल में संसर्ग का ज्ञान ही मानते हैं।
श्री कुमारिल भट्ट (श्लोकवार्तिक सू 2 का 6)	अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्द करोति हिं।	भावत्व लक्षण खण्डन	श्री हर्ष अपने मत की पुष्टि में ही यह उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री कुमारिल भट्ट (श्लोकवार्तिक 4/84)	'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना'	प्रत्यक्ष लक्षण खण्डन	श्री हर्ष अपने मत की पुष्टि मे यह मत उद्धरण देते हैं। ज्ञान स्वप्रकाश है प्रत्यक्ष वर्तमान विषयक होता है। कुमारिल ने भी कहा है कि वर्तमान और सम्बद्ध विषय को चक्षु ग्रहण करता है।
श्री कुमारिल भट्ट (श्लोकवार्तिक 4/2)	'लक्षणस्याअभिधानन्तु केनाशेनोपयुज्यते'	प्रत्यक्ष लक्षण खण्डन	श्री हर्ष ने अपने मत की पुष्टि में यह अश प्रस्तुत करते है प्रत्यक्ष के लक्षणों का खण्डन करते हुये श्री हर्ष ने यह दिखाया है कि भट्टजी ने भी कहा है कि --- लक्षण का अभिधान किसी अश में उपयोगी नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री हर्ष ने अपने मत की पुष्टि में तथा प्रतिवादियों के खण्डन में श्री कुमारिल का सहारा लिया है। दोनों में अनेक विचारों से साम्यता है।
श्री कुमारिल भट्ट (श्लोकवार्तिक बृहत् टीका)	एक साध्यविनाभावे मिथ. संबंधशून्ययो.। साध्याभावा विनाभावो स उपाधिर्यदत्ययः ।।	उपाधि लक्षण खण्डन	अपने मत की पुष्टि मे यह उद्धरण देते है।

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री कुमारिल भट्ट (सू 5, का 14-15)	अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्ती नामुपजीवकाः	उपाधि लक्षण खण्डन	अपने मत के समर्थन मे यह वाक्य प्रस्तुत करते हैं।
श्री कुमारिल भट्ट (तंत्रवार्तिक शून्यवाद)	यत्रोभयो तमो दोष	प्रतिबंदी लक्षण खण्डन	श्री हर्ष अपने मत की पुष्टि मे यह अंश प्रस्तुत करते हैं प्रतिबंदी लक्षण खण्डन करते हुये श्री हर्ष कहते है यही बात कुमारिल ने भी कही है कि जहाँ दोष दोनों पक्षों मे समान हो और उनका समाधान भी तुल्य हो, ऐसे अर्थ के विचार मे किसी एक पर पर्यनुयोग नहीं करना चाहिये।
श्री कुमारिल भट्ट (तत्रवार्तिक शून्यवाद)	यत्रोभयो तमो दोष	तर्क सामान्य लक्षण खण्डन	श्री हर्ष अपने मत की पुष्टि में यह वाक्य उद्धृत करते है।
श्री कुमारिल भट्ट (श्लोक वा.सू 2, का 61)	'एव त्रिचतुरज्ञान . जन्मनोनाधिकामति '	शून्यवाद - विचार	श्री हर्ष अपने मत की पुष्टि में यह उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं ज्ञान का ज्ञान अवश्य हो, ऐसा नियम नहीं है। तीन या चार ज्ञान से अधिक ज्ञान नहीं होते, यह भट्ट का न्याय है।

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री कुमारिल भट्ट	वस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धे प्रमाणता'	अप्रसगात्मक तर्क का निरूपण	अपने मत की पुष्टि मे उद्धरण देते हैं।
श्री मण्डन मिश्र	'लब्धरूपं क्वचित्कि ञ्चिन्ताद्दगेव निषिद्धयते'	भावाभाव-विरोध का खण्डन	श्री हर्ष यह वाक्य अपने मत की पुष्टि में उद्धृत करते हैं।

श्री हर्ष तथा उपनिषद् गीता

छान्दोग्य उपनिषद् (6/2/1)	एकमेवाद्वितीयम्	अद्वैत मे प्रमाण-विचार	श्री हर्ष अद्वैत प्रमाण विचार मे अपने मत को प्रकट करने के लिये कि अद्वैत में श्रुतियाँ भी प्रमाण है, उद्धृत करते है।
बृहदारण्यक उपनिषद् (6/1/21)	नेह नानास्ति किंन्चन	अद्वैत मे प्रमाण-विचार	श्री हर्ष अद्वैत प्रमाण विचार में अपने मत को प्रकट करने के लिये कि अद्वैत मे श्रुतियाँ भी प्रमाण है, उद्धृत करते हैं।
बृहदारण्यक उपनिषद् (1/4/2)	द्वितीयाद्वै भय भवति (द्वितीय से भय होता है)	भेद-खण्डन	श्री हर्ष भेद का खण्डन करने के लिये यह श्रुति अपने मत के खण्डन में प्रस्तुतत करते है।
कठोपनिषद् (2/9)	नैषां तर्केण मतिरापनेया (श्रुति से जायमान अद्वैत-बुद्धि तर्क से खण्डनीय नहीं है)	भेद-खण्डन	श्री हर्ष अपने सिद्धान्त के मण्डन में श्रुति प्रस्तुत करते हैं।

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री वेदव्यास (गीता 2/44)	स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' (स्वल्प भी अद्वैत-बोध महान भय, शोक आदि दु खों से रक्षा करता है)	भेद खण्डन	श्री हर्ष अद्वैत बुद्धि की महत्ता पर प्रकाश डालते समय अपने मत की पुष्टि मे यह गीता का वाक्य प्रस्तुत करते है।
श्री पाणिनि अष्टाध्यायी (1/4/14)	सुप्तिङन्तं पदम्	शब्द-लक्षण खण्डन	श्री हर्ष पाणिनि के इस सूत्र का खण्डन कर देते है कि "सुप्तिङन्त पदम्" है।
श्री पाणिनि अष्टाध्यायी (1/4/103)	विभक्तिश्च	शब्द-लक्षण खण्डन	श्री हर्ष श्री पाणिनि के इस सूत्र का भी खण्डन कर देते हैं।
श्री पाणिनि अष्टाध्यायी (5/3/1)	प्राग्दिशो विभक्ति.	शब्द-लक्षण खण्डन	इस सूत्र का भी श्री हर्ष खण्डन कर देते हैं।

2. **नैयायिक दार्शनिक :**

श्री हर्ष तथा नैयायिकों के सिद्धान्तों में काफी तनावपूर्ण स्थिति थी। जनश्रुति के आधार पर कहा जाता है कि वाद विवाद में श्री हर्ष के पिता को उदयन नामक नैयायिक दार्शनिक ने परास्त कर दिया था। अत. श्री हर्ष ने अपने पिता के अपमान का बदला लेने के लिये न्याय सिद्धान्तों का खण्डन किया, किन्तु इस यथार्थता के साथ ही साथ श्री हर्ष का समय भी ऐसे युग में था, जबकि वादविवाद का ही आधिक्य दार्शनिक विचारधारा में पाया जाता है। उस समय (11वीं सदी से 12वीं सदी तक) भारत में नैयायिकों, बौद्धों तथा मीमासकों में परस्पर

वाद-विवाद ही चल रहे थे। कोई नवीन सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत किया जा रहा था। अरब दार्शनिकों में अलगज्जाली और इब्सरोश्द भी खण्डन-मण्डन में ही प्रवृत्त थे। अंग्रेज दार्शनिकों का भी यही हाल था। अवश्य श्री हर्ष का खण्डन की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक था, किन्तु फिर न्याय नट-विद्या का प्रभाव पडना स्वाभाविक था। बहुत कुछ संभव था कि यदि नैयायिकों का प्रमाण-प्रमेय आदि सोलह पदार्थों का सिद्धान्त न होता तो श्री हर्ष को इस प्रकार के खण्डनात्मक विचारों को प्रस्तुत करने का अवसर न प्राप्त हो सकता।

अत. श्री हर्ष के इस प्रकार सर्व विजयिनी तर्क-पद्धति के अविष्कार का बहुत कुछ श्रेय न्याय-दर्शन को ही है। श्री हर्ष स्वयं अपने खण्डन खण्ड खाद्य में अपने विचारों को प्रकट करते हुये कहते हैं कि मैने इस ग्रंथ की रचना वादि-विजय के लिये ही की है।

न्याय का प्रभाव श्री हर्ष पर पडा, जिसके कारण उन्होंने खण्डनात्मक प्रवृत्ति का विशेष महत्व दिया, किन्तु उनका प्रभाव न्याय दर्शन पर कम नहीं पड़ा। नव्य-न्याय का जन्म ही श्री हर्ष के प्रभाव के कारण हुआ। नव्य-न्याय के प्रवर्तक श्री गंगेश उपाध्याय ने उस समय चल रहे खण्डन मण्डन से सीखकर ही नव्य-न्याय की स्थापना की। जिसके अनुसार न्याय शास्त्र मे केवल प्रमाण शास्त्र का विवेचन होता है और किसी पदार्थ मीमाशा से उसका सबध न रह गया।

श्री हर्ष और न्याय

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री गौतम (न्यायसूत्र 2/1/12)	मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यामाप्त प्रामाण्याद्।	द्वितीय कणत्व-लक्षण खण्डन	नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अपने करण लक्षण मे दिये गये श्री गौतम के इस वाक्य का श्री हर्ष खण्डन कर देते है।

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री गौतम (न्यायसूत्र 2/2/59)	वर्णा विभक्त्यन्ता पदमित्यन्ये ।	शब्द-लक्षण खण्डन	शब्द लक्षण के मण्डन मे नैयायिकों ने गौतम का वाक्य प्रस्तुत किया, जिसका श्री हर्ष ने खण्डन कर दिया ।
श्री गौतम (न्यायसूत्र 2/1/16)	'प्रमेयता च तुलाप्रमाण्यवत्'	प्रतिबंदी लक्षण-खण्डन	श्री हर्ष प्रतिबदी लक्षण खण्डन करते समय यह वाक्य प्रस्तुत करते है, क्योंकि इस वाक्य के व्याख्याता उद्योतकर ने स्वयं इस बात को मान लिया है कि मेरे पक्ष में दृष्टान्त नहीं है । यहाँ उद्योतकर ने स्वय अपनी हीनता स्वीकार कर लिया है । अत श्री हर्ष कहते हैं उद्योतकर के अपने पक्ष मे स्वयं हीनता स्वीकार कर लेने पर प्रतिबंदी लक्षण खण्डन हो जाता है ।
श्री गौतम (न्यायसूत्र 1/1/2)	'दु खजन्मप्रवृन्तिदोषमिथ्या ज्ञानानामुन्तरोन्तरापाये तदनन्तरापायाद`पवर्गः'		श्री हर्ष चक्रक तर्क लक्षण का खण्डन करते समय यह न्याय सूत्र प्रस्तुत करते है और कहते हैं इस न्याय सूत्रोक्त दु.खादि मे व्यवधानेन परस्पर जन्य जनक भाव होने से व्यभिचार है । अत लक्षण

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री उद्योतकर (न्यायवार्तिक 2/1/16)	समानमित्यनुन्तरमभ्युपगमात्, अभ्युप गत तावद्भवता नास्मत्पक्षे दृष्टान्तोऽस्तीति	प्रतिबंदी लक्षण खण्डन	श्री हर्ष ने गोतम के इस सूत्र को प्रमेयता व तुलाप्रमाण्यवत् को असिद्ध करने के लिये वार्तिकार का यह वाक्य उद्धृत कर देते हैं जिसमे उद्योतकर ने स्वयं अपनी हार स्वीकार कर लिया है।
श्री उदयनाचार्य	'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरित'	शून्यवाद और स्वप्रकाश विज्ञानवाद का भेद	यहाँ पर श्री हर्ष ने श्री उदयनाचार्य के इस विचार का ही परस्पर विरोध होने पर उन दोनों के विलक्षण तीसरे की स्थिति नहीं होती है। खण्डन किया है।
श्री उदयनाचार्य (कुसुमाजलि 3/8)	'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति	सर्वनामार्थ खण्डन	श्री हर्ष ने सर्वनाम खण्डन मे इनका खण्डन इन्हीं की उक्तियों से दृष्टान्त देकर किया है।
श्री उदयनाचार्य (कुसुमाजलि 6/7)	'यत्रानुकूलतर्को नास्ति सोअप्रयोजक '	असिद्ध-लक्षण खण्डन	श्री हर्ष यह वाक्य असिद्ध लक्षण का खण्डन करते समय प्रस्तुत करते हैं और अपने मूल की पुष्टि में कहते हैं कि उदयनाचार्य ने भी कहा कि जहाँ अनुकूल तर्क न हो वह हेतु अप्रयोजक है।

लेखक	उद्धरण	विषय	श्री हर्ष की टिप्पणी
श्री उदयनाचार्य (कुसुमांजलि 3/2)	'परतुम प्रतियोगिता'	भावाभाव विरोध का खण्डन	श्री हर्ष भाव तथा अभाव के लक्षण का खण्डन करते समय यह वाक्य उद्धृत करते है और श्री उदयनाचार्य के इस कथन को गलत साबित करते है कि अभावाभाव का प्रतियोगित्व वस्तुनिष्ठ ही हो सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि श्री हर्ष ने जो खण्डन पद्धति अपनाई है उसको सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन माध्यमिक मत के प्रधान आचार्य नागार्जुन ने अपने मत की स्थापना में इस पद्धति को अपनाया बाद मे मींमासकों ने परमत खण्डन में इसका उपयोग किया। आगे चलकर बारहवीं शताब्दी मे श्री हर्ष ने पूरा परिमार्जित तथा परिवर्धित रूप देकर संसार के सामने एक नई सी चमत्कारी कृति प्रस्तुत की, जो कि खण्डन खण्ड खाद्य है। इसमे श्री हर्ष ने नैयायिकों के विचारों का ही मुख्य रूप से खण्डन से किया है।

(ख) नैषध तथा अन्य दर्शन

चार्वाक - दर्शन :

श्री हर्ष ने चार्वाक दर्शन की कटु आलोचना नैषध में प्रस्तुत की है। मानव को पथ भ्रष्ट करने वाले काम, क्रोध, मोह, लोभ के साथ चार्वाकों को भी लाकर खडा कर दिया है। यहाँ पर श्री हर्ष का यह तात्पर्य था कि जिस प्रकार कामादि मानव की अज्ञानता के सहारे उसको बन्धन में डालते हैं, ठीक उसी प्रकार चार्वाक आदि दर्शन भी मानव को बधन की ओर ले जाने वाले है।

श्री हर्ष ने शुरू से ही चार्वाक, बौद्ध आदि की खिल्ली उडाई है। पहले तो कामादि के साथ उनको खडा वर्णन किया। दूसरे, काले वस्त्रों से ढका उनको प्रदर्शित किया, तीसरे, उनके वचनों को कर्कश बताया।[9]

चार्वाक प्रारम्भ मे वेदों की अप्रमाणिकता पर बल देते हुये कहता है कि वेद पूर्णतया अप्रमाणिक है। उनमे विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार पानी पर पत्थर तैरना असम्भव है, उसी प्रकार वेद वर्णित यज्ञों का फल भी असम्भव है।[10]

चार्वाक आत्मा को शरीर मानता है ओर उसे बौद्धों के मतानुसार क्षणिक नाशवान बताता हुआ कहता है कि पारलौकिक सुख की कामना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उस फल को भोगने के लिये कोई बचता ही नहीं, शरीर तो नाशवान् है।[11] क्षणिकवाद का यहाँ पर श्री हर्ष ने चार्वाक के द्वारा खिल्ली उडाई, क्योंकि इसके द्वारा श्रुतियों की प्रमाणिकता, पुर्नजन्म आदि को आघात पहुँचता है।

परलोक, पूजा-पाठ, सन्यास आदि का भी चार्वाक खण्डन करते हुये कहता है ये तो बुद्धिहीन मनुष्यों के जीविका के लिये साधना मात्र है। इनमे विश्वास करना व्यर्थ है। जाति-पाति तथा उत्तम कुल आदि की आलोचना करते हुये चार्वाक कहता कोई जाति या वश निर्दोष नही है, क्योंकि माता-पिता दोनों के वशों मे से कभी न कभी कोई अवश्य ही दुराचारी रहे होंगे। उनमे वंश की कुछ न कुछ खराबी अवश्य रही होगी। अत जाति-पाति को भाव नही मानना चाहिये।[12]

इसी तरह श्री हर्ष ने चार्वाक द्वारा व्रत रहना, तीर्थ गमन, पुण्य कर्म करना आदि कामों को बुरा बताया, क्योंकि स्त्रियों के ससर्ग मे रहकर यह सब व्यर्थ है। चार्वाक स्त्रियों को पातकी मानता है।

---

9 देखिये नैषध महाकाव्य 17/34-35

10. वही, 17/36

11. वही, 17/37

12 वही, 17/39.

इन चार्वाक के मतों को देखने से पता चलता है कि वास्तव मे चार्वाक दर्शन कितना निम्न वर्ग एवं भौतिकवादी दर्शन है । इतने से ही श्री हर्ष सतुष्ट नहीं हो जाते । वे चार्वाक की और बुरे सिद्धान्तों के प्रस्तुत करवाते है ।

इस तरह श्री हर्ष ने चार्वाकों द्वारा पूर्व पक्ष प्रस्तुत करवा कर फिर उनका देवों के माध्यम से 84वे से 105वें श्लोक तक मे विधिवत् खण्डन किया ।

जैन - दर्शन .

नैषध मे जैन-दर्शन का उल्लेख कम ही है । इस दर्शन मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न कहा गया है । जैन ग्रंथों मे प्रतिपादित सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञान को सम्यक् ज्ञान, उनमें पूर्ण श्रद्धा को सम्यक् दर्शन तथा उनके द्वारा बताये गये मार्गों के द्वारा पाप कार्यो से विमुखता को सम्यक् चरित्र कहा गया है । इस त्रिरत्न के द्वारा ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है ।

नैषध मे दमयन्ती दूत नल से देवों को वरने मे अपने चरित्र की दुहाई देती हुई जैनों के इसी त्रिरत्न का उल्लेख करती है ---- "जिस सम्यक् चरित्र रूपी धर्म चिन्तामणि को जिनने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र रूप त्रिरत्न मे रखा है, उसे जिस स्त्री ने शकर की कोपाग्नि में भस्म हुये मदन के लिये त्यागा, उसने मानों अपने कुल में ही वह राख उडाई"।[13]

बौद्ध - दर्शन .

नैषध में बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है । बौद्धों के शून्यवाद का उल्लेख श्री हर्ष ने सरस्वती की रूप कल्पना मे उनके उदर का वर्णन करते हुये उसे बौद्धों के शून्यात्मवाद से निर्मित बताया है ।[14] चार्वाक बौद्ध दर्शन के अस्थिरवाद का

---

13. न्यवेशि रत्नत्रियते जितेन य स धर्मचिन्तामणिरूज्झितो यया ।
    कपालिकोपानलभस्मन कृते तदेव भस्म स्वकुले सृतं तया ।। (नैषध 9/71)

14. शून्यात्मतावादभयोदरेव । नै 10/88

उल्लेख करता हुआ कहता है "किसी बोधसत्व ने वेदों की पोल खोलने के लिये जन्म लिया क्योंकि समस्त जगत को सत्व हेतु द्वारा क्षणभगुर बताया"।[15]

दमयन्ती से सन्ध्या वर्णन करते समय नल ने प्रात तारिकाओं के लुप्त हो जाने के विषय मे श्री हर्ष ने शून्यवाद तथा विज्ञानवाद का वर्णन किया --- "शून्यवादिनी बौद्धयोगिनी की भाँति रात्रि तारों का दृष्टान्त देती हुई कहती है कि जैसे जागरण के समय दिन होते ही ये सारे आकाश कुसुम तारे लुप्त हो जाते हैं, उसी भाँति दिखाई पड़ने वाला सारा बाह्यजगत असत्य है।[16]

इनके अलावा श्री हर्ष ने नैषध मे अनेक स्थानों पर बौद्ध दर्शन मतों का उल्लेख किया है।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन .

श्री हर्ष नैयायिकों के सोलह प्रमाण प्रमेय पदार्थों की आलोचना करते हुये दन्तक्रीडा बताया है। सोलह पदार्थो की तुलना सरस्वती के दन्त पक्तियों से की है। सोलह पदार्थो के लक्षण तथा ज्ञान प्राप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति (दो) उपायों का उल्लेख दोनों दन्त-पंक्तियों से किया है ----

"जिसकी दाँतों रूप पदार्थों की सोलह सोलह करके दो प्रकार से उदित हुई मुख स्थान से निकली हुई तथा सामुद्रिक (लक्षण) शास्त्र में कही हुई दन्त पक्तियों की जोडी ही नाम-कथन के अवसर में तथा लक्षण निरूपण में भी दो प्रकार से कहे हुये (प्रमाण-प्रमेयादि) सोलह पदार्थो से उपलक्षित और मुक्ति (नि श्रेयस) की कामना करने वालों के द्वारा अभ्यस्त वह प्रसिद्ध तर्क विद्या थी।[17]

---

15 केनापि बोधिसत्वेन जातं सत्वेन हेतुना। यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदिस्थिरम्।। नै 17/38

16. प्रबोधकालेऽहनि बाधतानि तारा खपुष्पाणि निदर्शयन्ती।
निशाह शून्याध्वनि योगनीय मृषा जगद्दष्टमपि स्फुटाभम्।। नै. 22/3.

17. उद्देशपर्वण्यपि लक्षणेऽपि द्विधोदितैः षोडषभिः पदार्थै।
आन्वीक्षकींयद्दशनद्विमालीं तां मुक्तिकाप्राकलितां प्रतीम।। नै. 10/82.

श्री हर्ष ने नैयायिकों की कटु आलोचना तथा उपहास नैषध मे किया है । उन्होंने चार्वाकों के माध्यम से न्याय दर्शन पर गहरा प्रहार किया है ।

न्याय दर्शन मे दु ख सुख की निवृत्ति को मोक्ष कहा जाता है । श्री हर्ष इस मोक्ष सिद्धान्त के विरूद्ध थे । उन्होंने चार्वाक के माध्यम से उसका उपहास किया ---- "गौतम मुनि ने सचेत प्राणियों को मुक्ति पाने के लिये अपना न्याय शास्त्र कहा । मोक्ष का लक्षण किया ---- सुख दु·ख किसी का अनुभव न होना । पाषाण-शिला की भाँति जड़ अवस्था । फिर उनका नाम भी तो गौतम (बडा बैल) है । आप उन्हें देखकर जैसा समझते हैं, वे वास्तव मे वैसे ही है ।

श्री हर्ष ने न्याय दर्शन के ईश्वरावाद का भी खण्डन एव उपहास किया है । चार्वाक के माध्यम से ईश्वर की आलोचना प्रस्तुत करते हैं । वह कहता है ---- "यदि सर्वज्ञ करूणामय तथा सत्यभाषी परमात्मा की सत्ता वास्तव मे है तो वह मुक्ति-भुक्ति चाहने वाले हम लोगों को अपनी स्वीकृति के दो शब्दों द्वारा ही क्यों पूर्ण मनोरथ नहीं करता" ।[18]

श्री हर्ष ने न्याय-वैशेषिक के तर्क का भी उपहास चार्वाक के माध्यम से कराया है । चार्वाक कहता है --- "फिर तर्को की कोई इति ही नहीं, एक तर्क दूसरे को काटता है और इस प्रकार दोनों परस्पर तुल्यबल हैं । किसे प्रमाणित माना जाय, किसे नहीं । फिर समान विरोध उपस्थित करने पर किसका मत अप्रमाणित नहीं हो जाता है" ।[19]

सांख्य योग

श्री हर्ष ने नैषध में साख्य योग दर्शन का कोई खास उल्लेख नहीं किया है । फिर भी थोडा बहुत वर्णन तो है ही । सांख्य के सत्कार्यवाद की ओर उस समय संकेत किया है, जब इन्द्र आदि देवताओं को याचक रूप में सामने खड़ा देखकर राजा नल कहते है

---

18. नै 17/77

19 तर्काप्रतिष्ठयासाम्यादन्योन्यस्य व्यतिघ्नतामे । नाप्रामाण्यंतानास्यात् केषा सप्रतिपक्षवत् ।। ने 17/ 79

---- "जन्य जनक मे भेद नहीं होता। मनुष्य देह सचमुच ही अन्न से उत्पन्न है। आपके अमृत भोजी शरीर को देखकर मेरी दृष्टि अमृत मे मज्जन सा कर रही है"।[20]

योग विभूति का वर्णन करते हुये पातन्जलि ने समाधि सिद्ध योगी का दूसरे शरीर में प्रवेश करना भी बताया है।[21] दमयन्ती के अन्त पुर में अदृश्य रूप से भ्रमण करते हुये राजा नल में श्री हर्ष उसी योगविभूति की उत्प्रेक्षा करते हुये कहते हैं ---- "वियोग व्यधित राजा योगी की भाँति अदृश्य होकर दूसरे के पुर (शरीर या नगर) मे प्रवेश कर मणि जटित भूमियों मे अपने प्रतिबिम्ब रूप कार्य-समूह का विस्तार करते हुये सुशोभित थे"।[22]

मीमाशा दर्शन

मीमाशा दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख नैषध में अनेक स्थानों पर हुआ है। मीमाशा के अनुसार ज्ञान स्वत प्रमाण माना गया है।[23] श्री हर्ष मीमाशा के पूर्वोक्त सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं। हस से नल कहते है -- "अथवा आपको इस प्रकार अपनी भलाई के लिये मेरा प्रेरित करना पिष्ट पेषण ही करना होगा, क्योंकि सज्जन तो स्वयं परार्थरत होते है, जैसे ज्ञानों की प्रामाणिकता स्वत सिद्ध होती है"।[24]

----

20 नास्तिजन्य - जनकव्यतिभेद सत्यमन्नजनितो जनदेह.।
वीक्ष्य व. खलु तनूममृतादं ऽडनिमज्जनमुपैति सुधायाम।। नै 5/94

21. बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसपेदनाच्च चित्तस्यपरशरीरावेश.।। (योग सूत्र 3/38)

22 भवन्नदृश्य ' प्रतिबिम्बदेहव्यूह वितन्वमणिकुट्टिमेषु।
पुर परस्य प्रविशन्वियोगी योग्रीव चित्र स रराज राजा।। नै 6/46.

23 स्वत सर्वप्रमाणाना ------। श्लोकवार्तिक 2/47

24. अथवा भवत प्रवर्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टिन.।
स्वतएव सतांपरार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता।। नै 2/61

मीमांशकों के मत से जिस मंत्र से जिस देवता का आवाहन होता है, उससे पृथक उस देवता की कोई सत्ता नही। श्री हर्ष ने इसका उल्लेख नल को वरदान देते समय इन्द्र द्वारा करवाया है ----- "यज्ञ मे तुम्हारी आहुतियों को मै प्रत्यक्ष रूप धारण कर स्वीकार करूँगा, क्योंकि हम देवों द्वारा यज्ञ का प्रत्यक्ष भोग किया जाना न देखकर ही लोग मंत्रों से पृथक देवों की सत्ता मे संदेह करते है"।[25]

अद्वैत वेदान्त .

जहाँ तक अद्वैत वेदान्त और नैषध के सिद्धान्तों और विवेचनों का प्रश्न है, वहाँ हमने पहले ही इसका उल्लेख कर दिया है कि श्री हर्ष अद्वैतवेदान्ती दार्शनिक है। खण्डन खण्ड खाद्य उनका अद्वैतिक तार्किक ग्रंथ है। नैषध को श्री हर्ष ने प्रतीकात्मक महाकाव्य के रूप मे रचा है। इस तरह सम्पूर्ण महाकाव्य ही अद्वैतवेदान्त को केन्द्र मानकर आगे बढता है, फिर भी हम कुछ विवेचन प्रस्तुत करते है ---

अद्वैतवेदान्त मे ब्रह्म प्राप्ति के उपाय, विधि तथा साक्षात्कार आदि विस्तृत विवेचन ही किया जाता है। श्री हर्ष ने नैषध मे भी अनेक जगह पर उल्लेख किया है ---- नारद के आकाश मार्ग को पार कर इन्द्रपुरी मे पहुँचने का वर्णन श्री हर्ष इस प्रकार करते है --- "देवर्षि अनन्त आकाश को पार कर इन्द्र भवन में पहुँच गये, जैसे योगी अनादि भवसागर को पार कर आनन्द निर्भर ब्रह्म को प्राप्त करना है"।[26]

स्वर्णिम हस के अकस्मात् उपवन मे दमयन्ती के पास उतरने का दमयन्ती की सखियों के नेत्र अपनी इस दृश्यमान वस्तुओं को त्याग कर उस वर्णनातीत रूप वाले हस में ऐसे जा लगे जैसे योगियों के चित्र सभी विषयों को त्याग कर अवागमन सगोचर ब्रह्म को प्राप्त होते है।[27]

---

25 प्रत्यक्षलक्ष्यामवलम्ब्य मूर्ति हुतानि यज्ञेषु तवोपभोक्ष्ये।
सशेरतेततऽस्माभिरवीक्ष्य भुक्त भरव हि मन्त्राधिक-देवभावे।। नै 14/73

26 स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्थ भवसिन्धुमनादि ब्रह्म शर्मभरचासयतीव।। नै 5/8

27. नेत्राणिवैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्त्द्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरूपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसियतब्रतानाम्।। नै 3/3

वेदान्त मे सांसारिक दशा को मोहदशा तथा मुक्तदशा को आनन्ददशा कहा जाता है । श्री हर्ष इसका वर्णन इस प्रकार करते है ----- " नल को देखने से आनन्द परिपूर्ण होकर तथा 'इस सुरक्षित अन्त पुर मे नल कैसे' इसलिये अवर्णनीय भ्रांतिपूर्ण होकर दमयन्ती उस समय मुक्त तथा संसारी दोनों प्रकार के व्यक्तियों की दशाओं का दुहरा मधुर स्वाद अनुभव कर रही थी "।[28]

इस प्रकार नैषध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के मार्मिक विषयोल्लेखों से भरा पडा है । श्री हर्ष समस्त दर्शनों के अद्वितीय विद्वान थे । उनके तर्क अप्रत्याख्येय होते थे ।[29] उन्होंने दर्शनों का केवल शास्त्रीय ज्ञान ही नहीं प्राप्त किया था, अपितु श्रवण, मनन एव निदिध्यासन द्वारा दर्शन को अपने जीवन का ही अंग बना लिया था । उनकी अपने प्रति " जो समाधि मे आनन्दसागर परब्रह्म का साक्षात्कार करता है ",[30] केवल गर्वोक्ति ही नहीं, तथोक्ति भी थी, क्योंकि ब्रह्म के सत्, चित् (ज्ञान) हुए बिना किसी मेधावी पुरूष से भी समस्त ज्ञान कोष का ऐसा स्फुरण (प्रकाश) असम्भव था । अपने अधृष्य तर्कों के बल से श्री हर्ष ने खण्डन खण्ड खाद्य मे प्रतितन्त्र सिद्धान्तों का उन्हीं की उक्तियों से खण्डन करते हुए वेदान्त सम्मत अद्वेत-ब्रह्म की स्थापना की है ।

नैषध में प्राय सभी दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है, जिससे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है, मानों श्री हर्ष नैषध को विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का एक परिचय-ग्रथ बनाना चाहते थे ।

--0--

---

28. तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवन्तरानिर्वचनीयमोहा ।
    सा मुक्तससारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङक्तमिष्टम् ।।   नै 8/15.

29 धार्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तय ।   नैषध 22/153

30 य. साक्षात्कुरूते समाधिषु परब्रह्म प्रमोदार्णवम् ।   खण्डन., अच्युत , पृष्ठ 580

अध्याय दशम

श्री हर्ष के दर्शन की आधुनिक प्रासंगिकता

"न कामये त्वमहं राज्यं न मोक्षं न पुनर्भवम्
आप्तये दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्तनाशनम्"

- महात्मा बुद्ध

श्री हर्ष के दर्शन की आधुनिक प्रासंगिकता

। - श्री हर्ष का अद्वैतवाद

अब हम विचार करेगे कि श्री हर्ष की चिन्तन-धारा, उनका विषय, विचार प्रकरण पद्धति आदि अद्वैतवाद के अनुरूप हैं या नही।

इस दृष्टिकोण से अध्ययन करते समय हमारे समक्ष एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न आ खडा होता है कि श्री हर्ष क्या अद्वैतवादी हैं या अन्य मतावलम्बी ? अत इस प्रसग के दो मुख्य खण्ड हो जाते है ----

। श्री हर्ष प्रच्छन्न बौद्ध है ।

2. श्री हर्ष अद्वैत वेदान्ती हैं ।

कुछ आधुनिक विद्वानों का विश्वास है कि श्री हर्ष प्रच्छन्न बौद्ध हैं और उनके अपने कोई सिद्धान्त, दर्शन-पद्धति, विचार, आदि मौलिक नही है । राहुल सांकृत्यायन ने अपना मत व्यक्त करते हुये लिखा है ---- "शंकर के अनुयायियों में सबसे बडे अनुयायी 'श्री हर्ष का खण्डन खण्ड खाद्य' सिर्फ सीताराम के मंगलाचरण तथा दो चार मामूली बातों के ही कारण शुद्ध माध्यमिक दर्शन का ग्रथ कहे जाने से बचाया जा सकता है"।[1]

एक दूसरे विद्वान ने लिखा है -- "श्री हर्ष के लिये नागार्जुन के तर्कों को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार करने के अतिरिक्त कुछ करना शेष नहीं था।[2] फिर आगे श्री हर्ष की पद्धति के विषय मे लिखा है, श्री हर्ष की आलोचना की प्राविधि भी नागार्जुन से उधार ली गई है"।[3]

वास्तव मे प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर दो खण्डों मे विभक्त है ----

(1) प्रच्छन्न बौद्ध कहने के प्रमाण क्या हैं ?

(2) उन प्रमाणों की सत्यता कहाँ तक हैं ?

। राहुल सास्कृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ 82।

2 दार्शनिक, जनवरी 1957, पृष्ठ 50.

3 वही, पृष्ठ 50

(1) प्रच्छन्न बौद्ध होने मे प्रमाण

यहाँ सम्पूर्ण प्रमाणों को सुविधानुसार विचार करने के लिये दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है -----

(अ) बाह्य प्रमाण।
(ब) अन्त. प्रमाण।

(अ) बाह्य प्रमाण .

(क) **अस्पर्श योग** - वेदान्त दर्शन के अनेक मुख्य दार्शनिकों ने, गौडपादाचार्य, गोविन्दाचार्य, श्री शकराचार्य आदि ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन, उपनिषदों के आधार पर किया है। आलोचकों का कहना है कि बौद्ध दार्शनिकों ने उपनिषदिक दार्शनिक विचारधारा का प्रतिपादन किया था। उसी की नकल वेदान्तियों ने की है। जिस प्रकार बौद्ध अस्पर्श योग के कारण चैतन्य की प्रधानता मानते हैं, वैसे ही वेदान्ती तथा श्री हर्ष भी ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं। श्री हर्ष कहते है, हम तो अपने अनुभव से ही स्वत. सिद्ध ब्रह्म रूप विज्ञान को प्राप्त है।[4] अत वे विज्ञानवादी बौद्ध है।

(ख) **अजातिवाद** - शून्यवादियों का कथन है कि कोई भी पदार्थ कभी, कहीं और कदापि उत्पन्न नही हो सकता। कोई पदार्थ न अपने आप उत्पन्न हो सकता है, न दूसरे के कारण और न अपने और दूसरे, दोनों के कारण और न बिना कारण।[5]

इस तरह शून्यवदियों ने सम्पूर्ण सत्ता का निषेध करके अजातिवाद का प्रतिपादन किया।

---

4 अस्माभिस्तु स्वसवेदनवलादेव स्वत सिद्धरूपं विज्ञानमास्थीयत् इति। (खण्डन , पृष्ठ 42)

5 न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुत । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा क्वचन केचन।।
(माध्यमिक कारिका)

श्री हर्ष की सम्पूर्ण प्रमाण, प्रमेय आदि नैयायिकों के 16 पदार्थों का खण्डन करते है । नैयायिकों का खण्डन करते समय श्री हर्ष शून्यवादी बौद्धमत का आश्रयण कर लेते है, जैसा कि 'बुद्धध्या विवेचितानां तु[6] आदि भगवान बुद्ध का उद्धरण देते है । अत श्री हर्ष प्रच्छन्न बौद्ध हैं ।

(ब) अन्त· प्रमाण ·

जो प्रमाण श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य मे प्राप्य हैं, वे अन्त प्रमाण हैं, जो निम्नलिखित है -

(क) विधि संबधी

बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति, भावविवेक आदि ने अपने विचारों को द्वन्दात्मक विधि (Dialectical Method) के द्वारा व्यक्त किया है । दो सिद्धान्तों के मतभेद को समाप्त कर तीसरा मार्ग बताना ही द्वन्दात्मक तर्क या नियम कहलाता है । श्री हर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य में इसी पद्धति को अपनाया है । इसीलिये उनको प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाता है ।

(ख) भाषा संबंधी समानता

श्री हर्ष ने अनेक स्थलों पर बौद्धों द्वारा प्रयुक्त शब्दों, भाषा तथा भावों के समरूप प्रयोग किया है, जिससे उनके ऊपर बौद्ध होने का आरोप लगाया जाता है ।

(2) प्रमाणों की कसौटी .

(क) अस्पर्श योग .

बौद्ध अस्पर्श योग के कारण चैतन्य की प्रधानता मानते है, उनके मतानुसार केवल विज्ञानमात्र सत्य है, भौतिक ससार केवल परिकल्पित है । जगत का निर्माण कल्पना अथवा अनुमान के कारण हुआ है । अत वह अभाव रूप है ।

---

6 बुद्धया विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते । खण्डन प 42 अध्यन

किन्तु 'अद्वैत वेदान्त' साथ ही श्री हर्ष ने भौतिक संसार का अलग ढग से निरूपण किया है। श्री हर्ष ने प्रपञ्च जगत को अनिर्वचनीय सिद्ध करके मिथ्या कहा है, किन्तु व्यवहार स्तर सत्य माना है। श्री हर्ष स्वप्रकाश ज्ञान के द्वारा ब्रह्म को पूर्ण चैतन्य मानते है। श्री हर्ष तथा वेदान्तीं पारमार्थिक दृष्टिकोण से केवल ब्रह्म को मानते है।

(ख) अजातिवाद .

शून्यवादी बौद्धों का कथन है कि 'सर्वशून्यम्'। बोद्ध ज्ञान तथा ज्ञेयात्मक समस्त प्रपञ्च को सर्वथा अनिर्वचनीय (शून्य या नि स्वभाव) मानते हैं, किन्तु श्री हर्ष ज्ञान को अनिर्वचनीय न मानकर ज्ञान से भिन्न केवल ज्ञेय प्रपञ्च को ही अनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् से भिन्न मानते हैं।

श्री हर्ष जहाँ नैयायिकों के 16 पदार्थो को अनिर्वचनीय बताकर उनका खण्डन कर देते है, उसके साथ ही बाद मे बौद्धो (विज्ञानवादी) का भी खण्डन कर अपना अद्वैतवाद प्रतिष्ठित करते है।

इस प्रकार हम देखते है कि बाह्य प्रमाणों द्वारा श्री हर्ष प्रचछन्न बौद्ध नहीं सिद्ध होते है। अब अन्त. प्रमाणों के आधार पर देखें -

(क) विधि (Methodology) :

शून्यवादी तथा श्री हर्ष दोनों द्वन्दात्मक विधि (Dialectical Method) को स्वीकार करते हैं, किन्तु दोनों के वर्णन में भेद है। नागार्जुन आदि ने द्वन्दात्मक नियम का प्रयोग किया, किन्तु उनका सिद्धान्त नकारात्मक सिद्धान्त था। नागार्जुन को इसका प्रयोग अपने को आलोचकों से बचाना था। सभी सिद्धान्त आत्मविरोधी है, उनके अनुसार सर्वोच्च बुद्धि सर्वशून्यता या प्रज्ञापारमिता है। प्रज्ञापारमिता के अनुसार प्रत्येक वस्तु शून्य है।

किन्तु श्री हर्ष इस विधि का प्रयोग केवल प्रमाण, प्रमेय आदि के लक्षणों का खण्डन करने के लिए किया है। तर्क के द्वारा आत्मा को नहीं जाना जा सकता है। द्वन्दात्मक नियम केवल जागतिक पदार्थो का खण्डन कर सकते हैं, आत्मा या ब्रह्म का नहीं। सभी सार्थक

निषेधों का अभिप्राय वास्तव मे किसी निश्चयात्मक आधार पर खडे होकर अन्य सबका अपवर्जन करना मात्र होता है । श्री हर्ष ने इसी अभिप्राय से नैयायिकों के सोलह पदार्थो का खण्डन द्वन्दात्मक विधि से करके अद्वैतवाद की स्थापना किया है । श्री हर्ष का उद्देश्य इस विधि द्वारा ब्रह्म का मण्डन था, न कि बौद्धों की तरह सबका खण्डन - सर्व शून्यम ।

(ख) शब्द, भाषा और भाव .

शब्द, भाषा और भाव की समानता के आधार पर श्री हर्ष को प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये किसी की पैतृक सम्पन्ति नहीं होते है । इन पर सबका समान अधिकार होता है । संस्कृत भाषा के दार्शनिक शब्दों का प्रत्येक दार्शनिक प्रचलित मुद्राओं के समान स्वच्छन्द व्यवहार कर सकता है ।

सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् मेरा अपना विचार यह है कि किसी सम्प्रदाय से प्रभावित होकर श्री हर्ष को प्रच्छन्न बौद्ध कहना यथार्थ नही है ।

यहॉ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि श्री हर्ष के विरोधी सामयिक दार्शनिकों ने कहीं भी इस तरह की बात नहीं कही थी । बाद के नैयायिकों ने खण्डनखण्डखाद्य के एक-एक सिद्धान्त को खण्डित करने का प्रयास किया, किन्तु कहीं भी उन्होंने उनको शून्यवादी नहीं कहा । अगर ऐसी बात होती तो वे श्री हर्ष को शून्यवादी बौद्ध कहकर हमेशा के लिये स्वतत्र हो जाते, क्योंकि वे पहले ही बौद्ध दार्शनिकों को परास्त कर चुके थे ।

बौद्ध और श्री हर्ष में प्रमुख अन्तर यह है कि बौद्ध ज्ञान-ज्ञेयात्मक समस्त प्रपञ्च को सर्वथा अनिर्वचनीय (शून्य या नि स्वभाव) मानते हैं, जबकि श्री हर्ष ज्ञान को अनिर्वचनीय न मानकर ज्ञान से भिन्न केवल ज्ञेय प्रपञ्च को ही अनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् से भिन्न मानते है ।

श्री हर्ष पर आक्षेप - (आलोचना)

1. कुछ विद्वानों का यह कहना कि श्री हर्ष की वाणी तर्क कर्कश थी? इससे मै सहमत नहीं, क्योंकि "नैषधे पदलालित्यम्" अति प्रसिद्ध है। उन्होंने नैषध में अपने सुकोमल वाणी का प्रयोग किया है। हाँ यह अवश्य है कि खण्डन मे उन्होंने कठोर शब्दों का प्रयोग किया है तो यह तो होना ही चाहिये। क्योंकि कहा गया है "समय समय सबै सुन्दर" विरोधी मतों का खण्डन करने के लिये रस वाहिनीं धारा का प्रयोग करते तो क्या ठीक था? श्री हर्ष का विचार भी था - "आर्जव हि न कुटिलेषु नीति "।

2. कुछ आलोचकों का कहना है कि श्री हर्ष परमत खण्डन करने में ही उलझे रहे, उनका अपना कोई निजी दर्शन नहीं है। किन्तु यह कथन बिल्कुल निराधार सा लगता है। एक परम अद्वैती के लिये खण्डन के अलावा और रास्ता ही क्या हो सकता है? जब तक द्वैत का खण्डन न किया जाय तब तक अद्वैत की कल्पना ही व्यर्थ है। जहाँ तक मण्डनात्मक विचारों का प्रश्न है, अद्वैत के विषय में नेति-नेति के अलावा और कहा ही क्या जा सकता है, क्योंकि मानवीय बुद्धि केवल सांसारिक गुणों का ही वर्णन कर सकती है, अद्वैत की कल्पना भी नहीं कर सकती है। साथ ही खण्डन विधि द्वारा केवल प्रमाणों एव लक्षणों का ही खण्डन किया गया है। श्री हर्ष अद्वैतवाद का मण्डन खण्डन द्वारा ही कर देते हैं। जैसा किसी आचार्य ने कहा है - "प्रमाण रहने पर लोक मे अदृष्ट भी बहुत सी वस्तुओं का स्वीकार किया जाता है"।[7] श्री हर्ष ने सबका खण्डन करके 'नेति-नेति' प्रमाण द्वारा अद्वैत सिद्ध किया है।

फिर भी श्री हर्ष "ईश्वर-सिद्धि" मण्डनात्मक ग्रंथ लिखा था, जिसमे सभी सम्भाव्य निरूपण ब्रह्म के विषय मे किये रहे होंगे। अत यह कहना कि उनका अपना कोई मण्डनात्मक विचार नहीं था, उनके विचारों मे भारी कमी है।

3. प्रायः पाश्चात्य विद्वानों का भारतीय दार्शनिकों पर आक्षेप हुआ करता है कि भारतीयों का दर्शन केवल श्रुति वाक्यों (शब्द प्रमाण) पर आधृत है। इनके पास अपना मत सिद्ध करने के लिये कोई दृढ़ तर्क (युक्ति) नहीं। किन्तु श्री हर्ष पर ऐसा आक्षेप कौन लगा

---

7 प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि। अदृष्टशतभागोपि न कल्प्यो निष्प्रमाणक.।।
- तं वा पृ 399.

सकता है, क्योंकि श्री हर्ष तर्क-शिरोमणि कहे जाते हैं। उनका पूरा खण्डन खण्ड खाद्य ही तर्क का भंडार है। उनके तर्क के सामने कोई प्रमाण, लक्षण, नाम इत्यादि नहीं ठहर सकते हैं। श्री हर्ष तर्क के सहारे विरोधी मतों का खण्डन करके तत्व ज्ञान तक पहुँचने का प्रयत्न करते है। वे स्पष्ट कहते हैं -- यथार्थ में हमने अद्वैत सिद्धि के लिये ही खण्डन युक्तियाँ कही है।[8]

विचित्र तार्किक तथा महान कवि श्री हर्ष (12वीं शताब्दी) तो चित्सुखाचार्य के परमादर्श है। शास्त्रार्थ के पूर्वांग खण्डन अंश मे चित्सुखाचार्य ने इन्हीं की शैली से इन्हीं के रणक्षेत्र में विशेषत संग्राम किया और सफलता प्राप्त की है। तत्व प्रदीपिका में खण्डनकारा कहकर इनका स्मरण किया गया है, किन्तु प्रत्यक्स्वरूप भगवान अपनी साहित्यिक तथा सरस भाषा मे श्री हर्ष काव्य श्री हीरतनया -- आदि शब्दों से इनका उल्लेख करते हैं, जिन धुरन्धर तार्किकों को श्री हर्ष ने अपनी कसौटी पर कसकर खोटा ठहराया था, बाजार में उन्हीं का भाव गिराने के लिये चित्सुखाचार्य मैदान में उतरे थे।

4. कुछ आलोचकों का कथन है कि भारतीय दर्शन की उत्पन्ति स्वतंत्र विचार से नहीं हुई है, वरन् आप्त-वचनों से हुई है। यह आक्षेप विशेषतः वेदान्त पर अधिक लागू करते हैं। इसके प्रत्युन्तर में कहना पड़ता है कि शायद ऐसे आलोचकों का दर्शन ज्ञान अपरिपूर्ण (बुद्धि अविकसित) ही है। उन्होंने वेदान्त के पूर्ण स्वरूप को पहचानने की कोशिश नहीं की। उनकी एकांगी दृष्टि वेदान्त के इतिहास के कुछ ही पृष्ठों पर पडी है। उन्होंने श्री हर्ष के विषय मे अपनी आलोचनात्मक कुदृष्टि के कारण अनभिज्ञ रहे। उनके नेत्र तथा चक्षु दोनों "तार्किक चक्रवर्ती" के विषय मे ज्ञान न प्राप्त कर सके। तार्किक शिरोमणि श्री हर्ष के द्वारा न्यायिक दिग्गजों की एक एक उक्ति खण्डित होकर अपनी अपूर्णता की घोषणा करती है।

---

8 अभीष्ट सिद्वावपि खण्डनानाम् ------------- योजयध्वम्।

- खण्डन, अच्युत पृष्ठ 82.

2 - श्री हर्ष तथा ब्रैडले

ब्रैडले आधुनिक आंग्ल अध्यात्मवादी दार्शनिक हैं । उनका प्रभाव समकालीन दार्शनिकों पर सबसे अधिक पडा था । उनका दर्शन एकत्ववाद की चरम सीमा पर पहुँच गया था । उन्होंने खण्डनात्मक एवं मण्डनात्मक दोनों पद्धतियाँ अपने दर्शन में व्यवहरित किया था ।डॉ देवराज का कथन है कि " उनका युक्तिवाद भारतीय बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन तथा वेदान्ती श्री हर्ष की तर्कना पद्धति का नवीन सस्करण मालुम होता है " ।[9]

इस युक्ति की यथार्थता के लिये हम ब्रैडले के मुख्य विचारों का अवलोकन करे । ब्रैडले का प्रमुख दार्शनिक ग्रथ "आभास ओर सत् " है । उन्होंने अपने ग्रथ के प्रथम भाग में प्रधान और अप्रधान गुण, द्रव्य और विशेषण, सम्बन्ध और गुण, दिक् और काल गति और परिवर्तन, आत्मा आदि की विवेचना खण्डनात्मक तर्क के आधार पर किया है और यह निष्कर्ष निकाला कि यह दृश्य ससार अन्तिम सत्ता नहीं, क्योंकि इसे बाध रहित नहीं कहा जा सकता है । यह तो प्रतीति मात्र है । श्री हर्ष संसार को प्रपञ्च मानते है और प्रपञ्च होने के कारण अनिर्वचनीय मानते है । उन्हे न वे सत् कहते हैं, न असत्, न सदसद् दोनों । किन्तु जगत की व्यावहरिक सत्ता श्री हर्ष स्वीकार करते है । ठीक इसी प्रकार ब्रैडले भी कहते हैं कि " हर निषेध का कुछ स्वीकारात्मक आधार होता है " । नकारात्मक निर्णयों से कुछ स्वीकारात्मक तथ्य या संकेत भी मिलता हे । आभास कहकर जिनका खण्डन किया जाता है, वह अस्तित्वहीन नहीं है ।

श्री हर्ष की तरह ब्रैडले ने भी परम तत्व को सविकल्प बुद्धि अग्राह्य बताकर तर्काधारित बौद्धिक प्रयत्न के बजाय सकल्प विचार और भावना समन्वित आन्तरिक दृष्टि को ही उपयुक्त समझते हैं ।

ब्रैडले ने सम्बन्धात्मक संसार में आत्म-निषेध दिखाकर उसे आभास मात्र की दी है और आगे स्वीकार किया कि आभास त्याज्य या उपेक्षणीय नहीं है, वह भी किसी न किसी

---

9 पाश्चात्य दर्शन - डॉ देवराज, पृष्ठ 310.

तरह सत् मे ही अवस्थित है । जो प्रतीत जगत है, वह सत्य से बाहर नहीं है । उन्होंने कहा - " हम कह सकते है कि सब कुछ जो प्रतीत होता है वह स्वय जगत के अर्थ मे किसी प्रकार सत्य है "।[10]

श्री हर्ष कहते हैं, मै जगत की व्यावहारिक सत्ता तो मानता हूँ, किन्तु परमार्थत कुछ भी नहीं है, सब अनिर्वचनीय है, एक ब्रह्म ही स्वत सिद्ध है ।

ब्रैडले का विचार है कि बिना किसी विधेयात्मक सिद्धान्त के कोई कुछ विचार ही नहीं कर सकता है । अत विचार करना ही विवेचन करना है, विवेचन करना ही आलोचना करना है और आलोचना करना ही सत्य का कोई मापदण्ड प्रयोग करना है ।[11] कुछ इसी प्रकार श्री हर्ष भी कहते है, तत्व का निश्चय करने वाले परीक्षक तो अवश्य ही इन खण्डन युक्तियों का आश्रयण करना चाहिये । क्योंकि जब तक खण्डन युक्तियों से परमत का खण्डन न हो, तब तक तत्व का निश्चय नहीं हो सकता ।[12] यहाँ पर दोनों मे स्पष्ट भेद दिखाई पडता है । तत्व के निर्णय के लिये दोनों तार्किक प्रणाली को आवश्यक मानते हैं । उसके द्वारा ही अपने चरम लक्ष्य तक पहुँचने की आशा करते हैं, किन्तु उनकी विषय सामग्री अलग-अलग है । ब्रैडले अपने विचारों में ही उलाम-सुलाम कर सत्य कोटि पर पहुँचना चाहते हैं । जब श्री हर्ष परमत खण्डन करके अद्वैत सिद्धि करना चाहते है ।

3 - श्री हर्ष तथा सुकरात

साक्रेटीज की दर्शन पद्धति " द्वन्द्वात्मक तर्क " की है । यह प्रश्नोत्तर की पद्धति है । वे वाद-विवाद के अत्यन्त प्रेमी थे । किन्तु यह वाद विवाद शुष्क या व्यर्थ का वाद-विवाद नहीं था । यह वाद-विवाद तत्व-बोध के लिये था । यह पद्धति मुख्यत निषेधात्मक

---

10 "We may say that everything which appear is some how real in such a way as to be self consistent".
Appearence and Reality, P. 123?

11 Hence to think is to judge and to judge to criticige and to criticige is to a criterian of Reality.
Appearence and Reality, P. 120.

12. खण्डन, पृष्ठ 85, अच्युत

थी, क्योंकि इसके द्वारा अन्धविश्वासों और अयुक्त मान्यताओं का खण्डन किया जाता है। साक्रेटीज का निश्चय था कि सविकल्प तर्क द्वन्दों मे ही फँसा रहता है और दिव्य विज्ञान तक नहीं पहुँच पाता, क्योंकि दिव्य विज्ञान निर्विकल्प स्वानुभूति का विषय है। अत तर्क का मुख्य कार्य अपने ही विकल्पों का खण्डन करके निषेध रूप से यह सिद्ध करना है कि उसकी गति तत्व तक नहीं है।[13]

सुकरात की द्वन्दात्मक पद्धति की तुलना श्री हर्ष की तार्किक प्रणाली से नहीं की जा सकती है, क्योंकि सुकरात की पद्धति बहुत ही संक्षिप्त थी। सुकरात का ध्येय केवल सविकल्प बुद्धि की निरीहता ही प्रकट करना था।

4 - श्री हर्ष का दर्शन में स्थान

श्री हर्ष अपनी कालजयी कृति "खण्डन खण्ड खाद्य" के कारण अद्वैत दर्शन के इतिहास मे एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्हें प्राय 'खण्डन कृत' या 'खण्डनकार' के नाम से सबोधित किया जाता है। उन्होंने वेदान्त मे एक विशेष सम्प्रदाय को जन्म दिया है, जिसे "बाध सम्प्रदाय" कहा जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार अद्वैत वेदान्त में चित्सुखाचार्य ने तत्व प्रदीपिका (चित्सुखी) तथा मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि लिखी। खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी और अद्वैत सिद्धि को वेदान्त के इतिहास में "कठिनत्रयी" या "बज्रत्रयी" कहा जाता है, क्योंकि इन तीनों ग्रथों की तर्क प्रणाली अत्यन्त क्लिष्ट है। इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय को बाध-सम्प्रदाय कहा जाता है, क्योंकि इनकी आलोचना का निष्कर्ष बाध-सिद्धान्त है।

इन नव्य वेदान्त की निम्नलिखित विशेषतायें है, जिनको श्री हर्ष ने उद्‌भावित किया है --

---

13 पाश्चात्य दर्शन - चन्द्रधर शर्मा, पृष्ठ 20

1. न्याय-वैशेषिक का खण्डन

श्री हर्ष के पूर्व वेदान्ती लोग प्राय मीमांसा और सांख्य तथा बौद्ध मत का निराकरण करते थे। स्वय शकराचार्य ने यद्यपि वैशेषिक का खण्डन तर्कवाद मे किया है।, तथापि उन्होंने शारीरिक भाष्य मे तथा अन्यत्र अधिकतर साख्य ओर मीमाशा का खण्डन किया है। श्री हर्ष ने खण्डन की जो नई प्रक्रिया चलाई, उसमें मुख्यत न्याय दर्शन का खण्डन किया गया। श्री हर्ष के पश्चात् वेदान्तियों ने न्याय वैशेषिक के पदार्थों, प्रमाणों और लक्षणों का अधिक खण्डन किया है। खण्डन खण्ड खाद्य एक प्रकार से न्याय वैशेषिक का ही खण्डन है। इसी प्रकार इस परम्परा में लिखा गया आनन्द गिरि का ग्रथ "तर्क सग्रह" पूर्णतया न्याय वैशेषिक का खण्डन है। लगता है कि श्री हर्ष के समय से आनन्द गिरि एक अद्वैत वेदान्त के प्रमुख प्रतिद्वन्दी न्याय-वैशेषिक दार्शनिक ही रहे है। श्री हर्ष ने स्वय कहा है कि जो उन्होंने खण्डन किया है, वे दिक् मात्र हैं और उनके समान या उनकी परम्परा मे और विकसित अन्य खण्डन युक्तियाँ दी जा सकती है।[14]

2. स्वयं प्रकाश पर बल .

श्री हर्ष ने जो नव्य वेदान्त चलाया, उसमें आत्मा के स्वप्रकाश पर विशेष बल है। उनके बाद चित्सुख ने तो अपने ग्रंथ "तत्व-दीपिका" को स्वप्रकाशत्व के विमर्श से ही आरम्भ किया है। चूंकि श्री हर्ष का दृष्टिकोण तार्किक था और वह तत्ववादी नही था, इसलिये उन्होंने ब्रह्म या आत्मा के सत्य या आनन्द रूप पर अधिक बल न देकर उसके "चिद्" रूप पर अधिक बल दिया। उनका यह प्रयास सिद्ध करता है कि वे निरपेक्ष प्रत्ययवादी दार्शनिक थे और उन्होंने नव्य वेदान्त के रूप में निरपेक्ष प्रत्ययवाद को विधिवत् स्थपित किया है।

---

14 ततुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे।
श्रृंखला तस्य शेषे च त्रिधां भ्रमति मत्क्रिया।।
(खण्डन, चौ., पृष्ठ 579.)

3. अनिर्वचनीयत्व का प्रतिपादन .

श्री हर्ष के द्वारा प्रवर्तित नव्य वेदान्त की तीसरी विशेषता यह है कि इसमे माया की पूर्ण स्वीकृति है। और जो लोग माया का खण्डन करते है, उनको नव्य वेदान्त के दार्शनिकों ने मुँह तोड उत्तर दिया है। चूंकि नव्य वेदान्त का दृष्टिकोण तार्किक है, इसलिये इसमे जगत् को मुख्यत सत् असत् से विलक्षण माना जाता है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने माया की पाँच परिभाषाओं को दोषरहित दिखलाकर श्री हर्ष के कार्य को और अधिक विस्तृत किया है।

4 निर्वचन और अनिर्वचत्व का अनुसंधान

श्री हर्ष ने अनिर्वचनीयता का एक और अर्थ किया है, जो आधुनिक भाषा दर्शन के लिये महत्वपूर्ण है। उन्होंने निर्वचन या शब्द शक्ति और लक्षण पर विशेष बल दिया है और यह प्रतिपादित किया है कि परम तत्व का निर्वचन नहीं हो सकता है।

श्री हर्ष नव्य वेदान्त के प्रणेता माने जाते हैं। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इन्होंने जन्म लेकर अद्वैत वेदान्त को तर्किक जामा पहनाया। इनके पूर्व के आचार्यो ने भी तर्क की ओर से मुख नहीं मोडा था, यथा स्थान उनका सहारा लिया था, किन्तु विस्तार से नहीं। श्री हर्ष के पूर्व के आचार्यो ने प्रमेय प्रधान ग्रंथों की रचना की थी। उसमे उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य और ब्रह्म सूत्र भाष्य हैं, इसके बाद इन्हीं पर टीकाये और वृत्तियों की रचनायें की जाती रहीं।

श्री हर्ष ने प्रमाण प्रधान ग्रंथों की रचना कर वेदान्त को एक नई दिशा प्रदान की। जिसके फलस्वरूप उनके परवर्ती दार्शनिक आचार्यो ने उनका अनुगमन किया। जिनमें चित्सुखाचार्य और मधुसूदन सरस्वती प्रमुख हैं।

श्री हर्ष ने वेदान्त पर लगाये जाने वाले आक्षेप कि वह श्रुति प्रधान है, का परिहार किया और उसे तर्क पूर्ण बना दिया। वास्तव मे श्री हर्ष ने इस कमी को पूरा करके महान् कार्य किया है। उनका दर्शन सर्व गुण सम्पन्न हो गया। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण

सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों का समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करता है । बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, साख्य योग, वेदान्त सबका एक साथ दर्शन श्री हर्ष के विचारों मे उपलब्ध हो जाता है । बौद्धों का जगत प्रपंच का विचार चतुष्कोटि विनिर्मुक्त न्याय वैशेषिक की तार्किक शैली अद्वैत वेदान्त का मायावाद तथा अनिर्वचनीयतावाद का एक साथ दर्शन खण्डनखण्डखाद्य में होता है । इन सबका चरम विकास श्री हर्ष के दर्शन मे प्राप्त होता है ।

श्री हर्ष का खण्डन खण्ड खाद्य में संसार को प्रपचात्मक सिद्ध करके उसका अनिर्वचनीयत्व सिद्ध करना था । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जगत् को सत्य मानने वाले द्वैतावलम्बी नैयायिक दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत प्रमाण प्रमेय आदि का खण्डन करना पडा । ' खण्डन ' के प्रत्येक अश में अनिर्वचनीयता ही सिद्ध की गई है । इसीलिये खण्डन को "अनिर्वचनीयता सर्वस्व" भी कहा जाता है ।

अद्वैत वेदान्त का इतना अधिक महत्व वास्तव में अनिर्वचनीयतावाद के कारण ही है। वेदान्त का यह ही मुख्य सिद्धान्त है, अनिर्वचनीयतावाद के बिना वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि ही नही हो सकती है, वह वन्ध्यापुत्र के समान असत्य हो जाय। श्री हर्ष ससार को मिथ्या मानते हैं । इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे प्रपञ्चात्मक जगत की सत्ता ही नहीं मानते है या उसे तुच्छ मानते हैं। तुच्छ और मिथ्या में बहुत अधिक अन्तर है । तुच्छ वह कहलाता है, जिसकी कहीं प्रतीति नहीं होती है । जैसे गगन कुसुम, वन्ध्यापुत्र आदि । प्रपंच ऐसा नहीं है, इसकी प्रतीति होती है । कालान्तर मे बाध होने के कारण प्रपन्च का मिथ्यात्व हो जाता है ।

5 - दार्शनिक प्रणाली

श्री हर्ष अद्वैतवादी दार्शनिक हैं। ऐसा प्रमाण उनकी कृतियों द्वारा ही सिद्ध है । उन्होंने अपने खण्डन खण्ड खाद्य मे अपूर्व बुद्धि कुशलता से अद्वैत प्रतिपादन किया है । उन्होंने अनेक स्थानों पर अद्वैतवादी होने का स्पष्ट उल्लेख किया है ।[15]

---

15 एकं ब्रह्मास्यमादाय नान्यम्, खण्डन पृष्ठ 64, अच्युत.

वादरायण द्वारा सुव्यवस्थित अद्वैत वेदान्त का सम्प्रदाय चला। उनके पश्चात् यह परम्परा आगे बढी और भाष्यकारों के युग मे अनेक सम्प्रदायों मे विभक्त हो गई। किन्तु अद्वैत वेदान्त का प्रमुख सम्प्रदाय शकराचार्य का ही रहा। वेदान्त ज्ञान सरिता का प्रबल प्रवाह शकराचार्य सम्प्रदाय ही रहा। शकराचार्य के पश्चात् सुरेश्वरचार्य, पद्मपादाचार्य, श्री हर्ष, चित्सुख, मधुसूदन, सरस्वती आदि अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक हुये है।

श्री हर्ष अपने तार्किक प्रणाली के लिये सुविख्यात है। अपने समयानुकूल ही उन्होंने अपने दर्शन को मूर्तरूप दिया था। ग्यारहवीं शताब्दी में चल रहे परमत खण्डन विचारधारा का उन्होंने भी पूर्णतया स्वागत किया था। द्वैतवाद के प्रचलित दार्शनिक मतों का उन्होंने डटकर खण्डन किया। उन्होंने अपना सारा दार्शनिक दृष्टिकोण ही खण्डनवादी बना डाला था।

ब्रह्मसूत्र मे भी ऐसे अनेक सूत्र मिलते है, जिनमें परमत खण्डन किया गया है। जिसकी स्पष्ट छाप श्री हर्ष पर पडी है। उनके पूर्व श्री शकराचार्य ने भी अपने भाष्य के माध्यम से अनेक द्वैतवादी विचारों का खण्डन किया है। उनके बाद के दार्शनिक में भी यह विचारधारा आगे बढती रही। श्री हर्ष में यह प्रवाह अपने यौवनावस्था को प्राप्त हुआ और सम्पूर्ण खण्डन ही खण्डनी ग्रथ बन गया।

श्री हर्ष अपने समय से प्रभावित होकर अद्वैत वेदान्त की प्रमुख विचारधारा " नेंति-नेंति " का ही प्रतिपादन किया। नेंति नेंति का प्रतिपादन ही वास्तव मे प्रत्येक अद्वैतवेदान्ती का लक्ष्य हुआ करता है। श्री हर्ष ने भी उसी का उचितत प्रतिपादन किया है।

श्री हर्ष का खण्डन खण्ड खाद्य खण्डनात्मक एवं मण्डनात्मक दोनों है। द्वैतवादी विचारों का उसमे स्पष्ट रूप से गम्भीरता पूर्वक खण्डन किया गया है। साथ ही लक्ष्य प्राप्ति ब्रह्म की प्रतिपादित सूक्ति "नेंति-नेंति" का मण्डन किया गया है।

वास्तव में शाकर वेदान्त मे दो प्रकार के ग्रंथ प्राप्त हैं -

(1) प्रमेय प्रधान ग्रंथ।

2 प्रमाण प्रधान ग्रथ।

श्री हर्ष के पूर्व के जो ग्रंथ प्राप्य है, वे प्रमेय प्रधान है। उनमे उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य है, जो प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके सब टीका ग्रंथ भी इसी मे सम्मिलित है। इन्हे प्राचीन वेदान्त कहा जाता है। इसके पश्चात् अद्वैत वेदान्त मे एक नये युग का प्रवेश होता है। जब श्री हर्ष द्वारा रचित खण्डन खण्ड खाद्य का प्रादुर्भाव अद्वैतभूमि पर होता है। श्री हर्ष का 'खण्डन खण्ड खाद्य' प्रमाण प्रधान ग्रंथ है। इसमे प्रमाणों की समालोचना की गई है। इनके पश्चात् अद्वैत वेदान्त में प्रमाण प्रधान ग्रंथ लिखे जाने लगे। जिनमे 'तत्वप्रदीपिका' और 'अद्वैतसिद्धि' प्रमुख है।

6 - श्री हर्ष का ब्रह्मवाद

श्री हर्ष अद्वैतवादी हैं। वे परम तत्व नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म को मानते है। ब्रह्म के अलावा उनकी दृष्टि मे सब प्रपन्चमात्र है। वे ब्रह्म सिद्धि के लिये कोई प्रमाण नहीं देते है, क्योंकि वे सम्पूर्ण लक्षणों, प्रमाणों एवं अन्य बुद्धि की कोटियों को प्रपन्चात्मक मानते है। ससार को श्री हर्ष ने बुद्धि की उपज मानते हुए अनिर्वचनीय कहा है।

दर्शन की खण्डनात्मक तथा मण्डनात्मक पद्धति को स्वीकार करते हुए श्री हर्ष ने खण्डनात्मक पद्धति का ही अधिकाधिक प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि एक अद्वैत रूप ब्रह्मास्त्र को लेकर सम्पूर्ण द्वैतवदियों को पराजित किया जा सकता है।[16] वे ब्रह्म के अलावा जब अन्य किसी की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते हैं तो उनके विषय मे मण्डनात्मक तर्क देने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

खण्डन खण्ड खाद्य मे श्री हर्ष अपने अकाट्य तार्किक युक्तियों द्वारा जागतिक नाम रूपात्मक वस्तुओं का खण्डन कर देते हैं। वे अपना सम्पूर्ण खण्डन ग्रंथ ही खण्डनात्मक बना डालते है। अपने परम तत्व को सिद्ध करने के लिये वे खण्डनात्मक पद्धति का ही रास्ता अपनाते हैं। वे मण्डनात्मक स्वरूप का उद्भव भी कैसे करे, क्योंकि अपने महान ग्रंथ के

---

16 एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्य गणयत' क्वचित्। खण्डन पृ 64, अच्युत.

प्रारम्भ मे ही उन्होंने उस तत्व को बुद्धि की कल्पना से परे की चीज बताया है।[17] वह केवल श्रुतियों द्वारा जाना जाता है। वह परमतत्व एक है, नित्य है। उसकी प्राप्ति समाधि द्वारा की जा सकती है।

श्री हर्ष ब्रह्म को अनिर्वचनीय बतलाते है। ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के लिये कहे गये सम्पूर्ण लक्ष्य अपूर्ण रह जाते हैं। वे मिथ्या लक्षण है। वे कहते है -- हम तो अपने अनुभव से ही स्वत सिद्ध ब्रह्मरूप विज्ञान को प्राप्त हैं।[18] उसको सविकल्प बुद्धि द्वारा नही जाना जा सकता है। इसी प्रकार उपनिषदों मे कहा गया है। परम तत्व ज्ञाता-ज्ञेय ज्ञान की त्रिपुटी मे नही आ सकता है।[19]

श्री हर्ष ब्रह्म को विज्ञानमय मानते हैं। वह केवल ज्ञान का विषय है। अनुभव द्वारा जाना जा सकता है। अद्वैत (ब्रह्म) स्वप्रकाश है। उसमें मान-मेयभाव नहीं। अद्वैत पारमार्थिक है, वह निर्विरोध है, क्योंकि वह पारमार्थिक भेद का विरोधी है। अविद्या कल्पित भेद का नहीं।[20] ब्रह्म अरूप है, क्योंकि स्वरूप का निर्धारण बुद्धि द्वारा ही होता है। और बुद्धि की दौड ब्रह्म तक नही है। नेति-नेति द्वारा श्री हर्ष ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि द्वैत के अभाव को 'अद्वैत' कहते हैं तब तो प्रतियोगी रूप से द्वैत भी मानना पडेगा। अत ब्रह्म अद्वैत है, यह कथन नहीं बनता। इसके उत्तर मे श्री हर्ष का कथन है कि जैसे भ्रमस्थल मे असत् रजत कह 'नेदं रजतम' निषेध होता है, वैसे ही जगत कल्पित द्वैत का ही निषेध होता है। अभाव ज्ञान में प्रतियोगी का सामान्य ज्ञान अपेक्षित है, प्रतियोगी की प्रमा नही। यहाँ द्वैत का भ्रमात्मक ज्ञान ही है। उसको नेति-नेति द्वारा खण्डन हो जाने पर द्वैत का अज्ञान नष्ट हो जाता है और ज्ञान स्वरूप 'अद्वैत' शेष रह जाता है।

---

17 अविकल्पविषय एक स्थाणु । खण्डन, पृ. 1, अच्युत.

18 अस्माभिस्तु स्वसंवेदनबलादेव स्वत सिद्धरूप विज्ञानास्थीयत। खण्डन, पृष्ठ 42, अच्युत

19 विज्ञातारमरे केन विजानीयात।

20 अद्वैत हि पारमार्थिकमिदं पारमार्थिकेनं भेदेन बाध्येत् न त्वविद्याविद्यमानेन। ख अ. पृ 78

श्री हर्ष ने नेति-नेति का प्रयोग द्वैत खण्डन में किया है । इसके द्वारा उन्होंने जगत के सम्पूर्ण पदार्थो को लक्षण विहीन बतलाकर मिथ्या सिद्ध किया, जिसके फलस्वरूप ब्रह्मवाद की स्थापना होती है ।

श्री हर्ष सब जागतिक पदार्थो, प्रमाणों आदि का खण्डन कर देते हैं, किन्तु वे आत्मा तथा ब्रह्म का खण्डन नही करते है, क्योंकि Dialectic (तर्क) द्रव्य को ही सिद्ध या असिद्ध कर सकता है, यह आत्मा के विषय मे विचार नहीं कर सकता है । क्योंकि कहा गया है

'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह'

तो वहॉ तक बुद्धि पाश की पहुँच नही है । आत्मा विज्ञान स्वरूप है । श्री हर्ष अन्य वेदान्तियों की भॉति आत्मा तथा ब्रह्म दोनों को एक मानते है । वे आत्मा को स्वत सिद्ध स्वरूप मानते है ।

श्री हर्ष द्वैत की सत्ता नही स्वीकार करते है । उन्होंने अपना सारा दार्शनिक विचार ही संसार के द्वैत खण्डन मे लगाया । उन्होंने ससार को अनिर्वचनीय कहा है, क्योंकि विज्ञान से भिन्न सब वस्तुये सत् असत् से विलक्षण है । यह प्रपन्च शत् नही है, क्योंकि वस्तु को सिद्धि लक्षण से होती है और लक्षण वक्ष्यमाण दूषणों से दूषित है । वह असत् भी नही है, क्योंकि लौकिक तथा परीक्षक के व्यवहार का विषय होता है ।[2]

श्री हर्ष कहते है अद्वैत पारमार्थिक है । अत वह पारमार्थिक भेद का विरोधी है, अविद्या कल्पित भेद का नही । भाव यह है कि वे अविद्याकल्पित सासारिक सत्ता स्वीकार करते है । वे जगत की व्यावहारिक सत्ता तो स्वीकार करते हैं, किन्तु वह अविद्या के कारण है तथा कल्पित हैं । इसी प्रकार शंकराचार्य भी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं, और उसे अविद्या कल्पित बतलाते हैं ।

2। विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सद्सद्भ्यां विलक्षणम् । तथाहि नेदं सत् भवितुर्महति, वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात् । नाप्यसदेव, तथा सति लौकिक विचारकारणा सर्वव्यवहारव्याहत्यापन्ते. । (खण्डन पृ. 43)

7 - ब्रह्म प्राप्ति का साधन

श्री हर्ष अपने तार्किक वचनों से सम्पूर्ण व्यावहारिक सासारिक पदार्थो का खण्डन कर, एक नि स्वभाव, परम तत्व की स्थापना की। उनका कहना है कि मानव बुद्धि की कोटियों से परे उठकर निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है।[22]

मानव जब तक बुद्धि की कोटियों मे फँसकर तर्क वितर्क का सहारा लेता हुआ तत्व को खोजना चाहेगा, तब तक वह भ्रमजाल मे पडा रहेगा और सच्चे सुख शान्ति का लाभ नही प्राप्त कर सकता है। ससार प्रपन्च है, उसकी सारी भौतिक भावनाये प्रपन्चात्मक है। वे सद्सत विलक्षण अनिर्वचनीय है। अत मानव मात्र को बुद्धि कोटि से ऊपर उठकर स्वत सिद्धि स्वप्रकाश विशुद्ध विज्ञान रूप ब्रह्मानद मे लीन रहना चाहिये जिससे उसे जीवन-शान्ति प्राप्त हो सकेगी। वे द्वैतवादियों के मतों का खण्डन करते हुये कहते हैं, वस्तुत. सारे ससार के सत्व या असत्व के साधन से निवृन्त हम लोग तो स्वत सिद्ध चिद्रूप केवल ब्रह्मतत्व का निश्चय पाकर कृतकृत्य हो सुख से स्थित है।[23]

श्री हर्ष का कथन है कि ब्रह्म स्वत. सिद्ध है। उसके ज्ञान के लिये विशुद्ध निर्विकल्प स्वानुभूति की शरण लेनी पड़ेगी और मौन रहकर आत्म चिन्तन के द्वारा आत्म साक्षात्कार करना पड़ेगा। मानव जिन बुद्धिगम्य पदार्थों को सत्य मान बैठे है वे सब मिथ्या है। वह सब अनिर्वचनीय है। उनको कोई लक्षण नहीं है। क्योंकि वे न तो सत् न असत् न सदसत् कहे जा सकते है। अत केवल ब्रह्म ही अद्वय परमार्थ सत् है।[24]

ब्रह्म प्राप्ति के लिये श्रद्धा तथा आत्म विषयक जिज्ञासा से युक्त एव धीरे-धीरे विषयों से व्यावृन्त चिन्त आप स्वप्रकाश परमार्थ का स्वयं साक्षात्कार करेगे।[25] श्री हर्ष का कथन

---

22 अविकल्प विषय एक . . तमधिगतम्। खण्डन, पृ ।, अच्युत.

23 वस्तुतस्तु वयं सर्वप्रपञ्च सत्त्वासत्त्वव्यवस्थापनविनिवृन्ता स्वत.सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतन्त्वे केवले भरमवलम्ब्य चरितार्था सुखमास्महे। खण्डन अच्युत , पृष्ठ 45

24. तदेव भेदप्रपञ्चोऽनिर्वचनीय· ब्रह्मैव तु परमार्थसदद्वितीयमिति स्थित्। (खण्डन, पृ 27)

25 श्रद्धया अध्यात्मं जिज्ञासमान. परमार्थतत्व क्रमात् वृन्तिव्यावृन्तचेता. स्वप्रकाश साक्षिक माक्षिकरसातिशाये स्वात्मनैव साक्षात्करिष्यति। (खण्डन, पृष्ठ 82)

है कि यदि मानवी बुद्धि सापेक्ष एव सविकल्प होती है। अतएव वह ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान की त्रिपुटी के जाल मे निकल नहीं सकती है। तत्व विशुद्ध विज्ञान है जो इस व्यावहारिक त्रिपुटी का अधिष्ठान है। विशुद्ध विज्ञान और विशुद्ध विज्ञाता मे कोई अन्तर नहीं होता है। क्योंकि परमार्थ मे त्रिपुटी नहीं होती। विज्ञाता कभी विज्ञेय नहीं बन सकता।[26] बुद्धि ग्रह्य नहीं हो सकता है। उसका साक्षात्कार विज्ञान की स्वानुभूति मे होता है। उसका निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वत सिद्ध और स्वप्रकाश है।

श्री हर्ष कहते है कि श्रुति मानवीय बुद्धि की चरम सीमा है। यहाँ बुद्धि अपनी निर्बलता जान लेती है ओर परमार्थ की ओर इंगित करती है, वाङ्मनस् अगोचर है। महावाक्यों का मनन ओर निदिध्यासन करने से उनका वास्तविक अर्थ प्रकट होता है और तब उसी क्षण अविद्या और उसके समस्त प्रपच विलीन हो जाते है। ज्ञान सूर्य के उदय होते ही अविद्या अन्धकार कैसे टिक सकता है? तब सविकल्प बुद्धि अपने सापेक्ष 'विचार-जाल' को तोड फैकती है और स्वय प्रकाश परमार्थ चिदानन्द स्वरूप स्वानुभूति बनकर सदैव चमकती रहती है।[27] उस अवस्था मे बुद्धि आत्मानद सागर मे डूबकर सदृश्य ही अखण्ड नित्यानद का अनुभव करती है।[28]

श्री हर्ष का कथन है कि समाधिस्थ होकर चित्तवृत्तियों को बाह्य जगत से हटाकर, बुद्धि की कोटि से उठकर अनुभूति के क्षेत्र मे प्रवेश किया जाता है। जहाँ पर हम अपने अनुभव से स्वत सिद्ध ब्रह्म रूप विज्ञान को प्राप्त होते है।

श्री हर्ष ब्रह्म प्राप्ति की अंतिम अवस्था अनुभूति मानते है, जिसमें ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। जीव और ब्रह्म मे कुछ भेद नहीं रह जाता है। वे कहते हैं, हम तो अपने अनुभव से ही स्वत सिद्ध ब्रह्म रूप विज्ञान को प्राप्त है।[29]

---

26 विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

27. आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनामद्वैत ---- विचारात्।। खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 81.

28 आत्मतत्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसम्। खण्डन, पृष्ठ 82

29 अस्माभिस्तु स्वसवेदनबलादेव स्वत सिद्धरूप विज्ञानमास्थीयत् इति। खण्डन, पृष्ठ 42

1 व्यवहारत प्राप्ति।

2 सिद्धान्तत प्राप्ति।

1. व्यवहारत प्राप्ति

(अ) समाधि।

(ब) बुद्धि कोटि से परे उठना।

(स) अनुभव द्वारा।

2. सिद्धांन्तत प्राप्ति

श्री हर्ष ब्रह्म या अद्वैत सिद्धि के लिये अकाट्य तर्क युक्तियों का प्रयोग करते है। वे सम्पूर्ण जगत को प्रपच घोषित करते है। सभी प्रमाण लक्षणादि का खण्डन कर देते है। सम्पूर्ण बुद्धि कोटि वाले पदार्थो का खण्डन कर ब्रह्म को स्वत सिद्ध बतलाते है और कहते है - यथार्थ मे हमने अद्वैत सिद्धि के लिये ही खण्डन युक्तियाँ कही हैं।[30]

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी अन्य के खण्डन द्वारा किसी अन्य का मण्डन हो जाता है?

वे कहते है, ब्रह्म तो स्वत सिद्ध है। वही तो आत्मस्वरूप है। उसकी प्राप्ति के लिये हमे कोई प्रयत्न नहीं करना पडता है, वह तो आत्म विज्ञान ही है।

8 - श्री हर्ष का सत्तावाद

श्री हर्ष शकर की भाँति तीन सत्तायें स्वीकार करते है --

(1) पारमार्थिक।

(2) व्यावहारिक।

(3) प्रतिमासिक।

---

30 अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डिराज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तन्तानि कस्मान्न यथाभिलाष सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम्।।

खण्डन, अच्युत, पृष्ठ 82

(1) पारमार्थिक सत्ता .

श्री हर्ष पारमार्थिक सत्ता स्वीकार करते है और सम्पूर्ण जगत को अनिर्वचनीय कहते है। वे सम्पूर्ण प्रमाण - प्रमेय को अनिर्वचनीय कहकर अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं --

"एक ब्रह्मास्त्रमादाय नान्य गणयत क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भडग सडगरकेलिषु।।" 31

(2) व्यावहारिक सत्ता .

श्री हर्ष कहते हैं कि विज्ञान से भिन्न वस्तुयें सत् असत् से विलक्षण है। यह प्रपचमय जगत् सत् नहीं है, क्योंकि वस्तु की सिद्धि लक्षण से होती है और लक्षण वक्ष्यमाण दूषणों से दूषित है। किन्तु यह जागतिक सत्ता असत् भी नहीं कही जा सकती है, क्योंकि लौकिक तथा परीक्षक के व्यवहार का विषय होता है।[32] अत श्री हर्ष जगत की व्यवहारत सत्ता स्वीकार करते है।

(3) प्रतिमासिक सत्ता

श्री हर्ष तीसरी सत्ता प्रतिमासिक मानते है जो कि अविद्या कल्पित होती है। अविद्या जनित कार्य शुक्ति सत् के तुल्य मिथ्या होते हैं।[33] श्री हर्ष असत् की सत्ता तब तक के लिये मानते है, जब तक कि उसका निराकरण नहीं हो जाता है। अत वे प्रतिमासिक सत्ता भी स्वीकार करते है।

---

31 खण्डन, पृष्ठ 64ए अच्युत ग्रंथ माला।

30 विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिद विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिन. संगिरन्ते। तथाहि नेद सत् भवितुमर्हति, वक्ष्यमाणदूषणग्रस्तत्वात्। नाप्यसदेवं, तथा सति लौकिकविचारकाणा सर्वव्यवहार व्याहव्यापन्ते.। खण्डन, पृ. 43, अच्युत ग्रंथ माला।

33. अद्वैत हि पारमार्थिकमिदं भेदेन बाध्येत, न त्वविद्यामानेन। खण्डन, पृ 78.

9 - श्री हर्ष तथा समाज

श्री हर्ष के खण्डन खण्ड खाद्य पर तत्कालीन दार्शनिक (सास्कृतिक) एव सामाजिक परिस्थिति की स्पष्ट छाप दीख पडती है। प्रमाण-प्रधान ग्रथ की रचना कर वेदान्त मे नव्यवेदान्त की स्थापना की। तार्किक शैली एव खण्डनात्मक पद्धति का पूर्णतया निर्वाह कर तत्कालीन दार्शनिकों के शिरोमणि बने। सासरिक भोगों मे लिप्त जनता-जनार्दन को सन्मार्ग पर लाने के लिये ममता, वासनादि से निवृत्ति कराने की दृष्टि से ही अनात्मक स्वरूप लक्षण ओर लक्ष्यात्मक नामरूप का खण्डन किया है और अर्थ, भोगादि पदार्थो को मिथ्या सिद्ध किया है। इसका कारण यह था कि सत्य, सुखद और सुन्दर वस्तुओं से प्रेम बढता है, उनसे ममता रहती है। उनको प्राप्त करने की हमेशा इच्छा रहती है। और जो वस्तुये असत्य समझी जाती हैं, उनसे उतना लगाव नहीं रहता है। उनके व्यवहार में आने पर भी उनसे घनिष्ठ सानिध्य नहीं होता है।

श्री हर्ष ने शिष्टादि मे जो ममता, वासनादि है, उनकी निवृत्ति करने की दृष्टि से ही अनात्मस्वरूप लक्षण और लक्ष्यात्मक नामरूप का खण्डन किया है, अर्थात् उनके अनिर्वाच्यत्व (मिथ्यात्व) को दर्शाया है, क्योंकि सत्य सुखद सुन्दरादि समझी गई वस्तु की प्राय ममता वासना होती है, असत्यादि समझी गई स्वप्न तुल्य वस्तु के वर्तमान काल में ज्ञान-व्यवहारादि होने पर भी ममता नहीं होती है, अतएव अत्यन्त प्रिय माता-पिता आदि के शरीरादि को मृतक अवस्था मे अपवित्रादि समझ कर शीघ्र ही दाहादि किये जाते है। अत कहा जाता है कि -

झूठ झूठ के छाडहू , मिथ्या यह ससार।
भजहु राम सशय तजहु , जाते होय उबार।।

दूसरे जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में सन्मार्ग से चलने पर मनुष्य को लाभ, सुख, सुयश सद्गति होती है, परन्तु पतगा के उस दीपक मे गिरने से दीपक बुझ जाती है - पतगा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मानव तनरूप युवावस्था के प्रकाश से युक्त दीपक के प्रकाश में सन्मार्ग से चलने पर अवश्य कल्याण होता है और ममता, वासनादि से इसमें पतग तुल्य

आसक्त होने से नाश होता है । अत देहासक्ति, ममता, कुसंग के त्यागपूर्वक विचारसद्भक्ति आदि ही संसार का त्याग है, वही कर्त्तव्य है ।

और दूसरा ममता त्याग के लिए उपाय दर्शन है कि -

त्याग तो ऐसा कीजिए , सब कुछ एकहि बार ।
सब प्रभु का मेरा नही, निश्चय किया विचार ।।

अर्थात् अधिष्ठान और आधार रूप से सत्ता प्रकाश रूप से सच्चिदानन्दरूप विविध माया द्वारा सब जगत का कारण है और (सत् घट = अस्ति घट) इत्यादि रूप से वही सर्वत्र समरूप से भासता है, अत वह सर्वत्र सर्वात्मा धर्मी है और सब जगत उसके आश्रित मायामात्र मिथ्या है, वह भी प्रभु का है - व्यावहारिक जीव का नहीं। ममता अज्ञान से होती है और माया अज्ञान से ही विपरीत धर्मधर्मीभाव भासता है । अर्थात् सत्तास्वरूप ब्रह्मात्मा धर्म भासता है और द्रव्यगुणादि धर्मी भासते है जिसे नैयायिक द्रव्यादि के धर्मरूप सत्ता मानते हैं ।

अत श्री हर्ष ने सामजिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया, उन्होंने ससार को प्रपञ्चात्मक मिथ्या सिद्ध करके कामदि से अनासक्ति का मार्ग दिखलाया जो आज भी भौतिकवादी समाज के सुख शान्ति हेतु परमोपयोगी, साथ ही देश की एकता एवं अखण्डता हेतु परमावश्यक महामंत्र है ।

--0--

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 अद्वैत वेदान्त से न्याय का सघर्ष डॉ सत्य प्रकाश पाण्डेय, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, 1990

2 अद्वैत सिद्धि मधुसूदन सरस्वती, हिन्दी अनुवाद सहित योगीन्द्रानाथ वाराणसी

3 आभास और सत् एफ एच ब्रैडले, अनुवादक डॉ फतह सिंह, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण, 1964

4 अष्टाध्यायी · श्री पाणिनि

5 कठोपनिषद डॉ रामरंग शर्मा, शंकरभाष्य सहित हिन्दी अनुवाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1979

6 काव्य मीमांशा श्री राजशेखर

7 कुसुमाञ्जलि श्री उदयनाचार्य, सम्पादक दुदिराज शास्त्री, चौखम्बा, वाराणसी, वि सम्वत् 2013

8 खण्डन खण्ड खाद्य श्री हर्ष, हिन्दी अनुवाद श्री चण्डी प्रसाद शुक्ल, अच्युत ग्रंथमाला, काशी सम्वत् 2018.

9 खण्डन खण्ड खाद्य श्री हर्ष, हिन्दी अनुवाद स्वामी श्री हनुमान दास जी षट्शास्त्री, चौखम्बा, वाराणसी, 1970.

10. खण्डन खण्ड खाद्य ' श्री हर्ष, हिन्दी अनुवाद स्वामी श्री योगीन्दानाथ, चौखम्बा, वाराणसी, 1992.

11 खण्डन खण्ड खाद्य चित्सुख, शंकर मिश्र, रघुनाथ विद्यालंकार, प्रगल्भ मिश्र और सूर्य नारायण शुक्ल की क्रमश भावदीपिका, शांकरी खण्डन भूषामणि खण्डन दर्पण और खण्डन रत्नमालिका टीका सहित चौखम्बा, वाराणसी

12 खण्डनगर्त प्रदर्शनी साधु मोहन लाल

13. भगवत् गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर

14 चतु सूत्री श्री शंकराचार्य

15. छान्दोग्य उपनिषद . गीता प्रेस, गोरखपुर.

16. तत्वप्रदीपिका . श्री चित्सुखाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1931.

17 तन्त्रवार्तिक : श्री कुमारिल आनन्दाश्रम, पूना, 1929.

18 तैत्तरीय उपनिषद गीता प्रेस, गारेखपुर

19. दर्शन दिग्दर्शन · श्री राहुल सांस्कृत्यान

20 नैषधीय चरितम् : श्री हर्ष, मल्लिनाथ कृत जीवार्थ सहित, चौखम्बा, वाराणसी

21 नैषध परिशीलन डॉ चन्द्रिका प्रसाद शुक्ल, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

22 न्यायकोश महामहोपाध्याय, भीमाचार्य झालाकीकर, गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बम्बई, 1893

23 न्याय भाष्य श्री वात्स्यायन, श्री सुदर्शनाचार्य की व्याख्या सहित, सम्पादक - स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, सुधी प्रकाशन, वाराणसी, 1986

24 न्याय वार्तिक श्री उद्योतकर, चौखम्बा, वाराणसी, 1916.

25 न्याय सूत्र श्री गौतम, चौखम्बा, वाराणसी, 1942

26 पाश्चात्य दर्शन डॉ एन के देवराज

27 पाश्चात्य दर्शन डॉ चन्द्रधर शर्मा, नन्द किशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, 1964.

28 प्रमाण वार्तिक श्री धर्म कीर्ति, सम्पादक - पं. राहुल सास्कृत्यायन, जे बी ओ आर यस अंक 24, 1938

29 प्रमाण वार्तिकालंकार श्री प्रज्ञाकर गुप्त.

30 बौद्ध दर्शन और वेदान्त डॉ चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेन्ट फ्रेण्डस, इलाहाबाद, 1949

31 बृहदारण्यक उपनिषद · आनन्दाश्रम पूना, 1914.

32 भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण डॉ. संगम लाल पाण्डेय, शंकर पब्लिकेशन, इलाहाबाद

33. भारतीय दर्शन वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, 1962.

34 भारतीय दर्शन का इतिहास · एस.एन दास गुप्ता, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकेडमी, जयपुर.

35 भारतीय तर्कशास्त्र का आधुनिक परिचय · डॉ. संगम लाल पाण्डेय, दर्शन पीठ, इलाहाबाद, 1969.

36. भारतीय संस्कृति और साधना : महामहोपाध्याय, डॉ. गोपीनाथ कविराज, 1963.

37. महाभारत · नीलकण्ठी, व्याख्या सहित, बम्बई, 1939.

38. माध्यमिक कारिका नागार्जुन, सम्पादक प्रो. पूसी, पीटर्सवर्ग, 1903

39 योगसूत्र : पतञ्जलि

40 रत्नावली श्री नागार्जुन, सम्पादक - जी टुच्ची, जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी, 1934.

41 रामचरितमानस तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर

42 लक्षणमाला न्यायाचार्य शिवादन्त मिश्र, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1963

43 लकावतार सूत्र श्री बुद्धदेव, सम्पादक - बी नान्जियो, क्योटो, 1923.

44 सर्वदर्शन सग्रह · माधवाचार्य, लक्ष्मी वेंकेटेश्वर प्रेस, बम्बई (1982 वि)

45 सर्व सिद्वान्त संग्रह शंकराचार्य

46 सिद्धान्तालेश संग्रह · अप्पय दीक्षित अच्युत., वाराणसी

47 श्लोक वार्तिक · श्री कुमारिल भट्ट, सम्पादक - स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, 1978

48. Appearence and Reality : H.H. Bradley, Second Edition: Oxford, at the Calerden Press, 1959.

49. Indian Pholosophy : Dr. Radha Krishanan, Vol. II.

50. Studies in Post Shankar Diatectics. Astutosh Bhattacharya Shastri, University of Calcutta, 1936

51. Structural Depths of Indian Thought : P.T. Raju, South Asian Publishers, New Delhi, 1985.

52. Esencials of Logic : Bermaidy Bonsanquat Lecture No.81.

53. Indian Thought : Dr. Ganga Nath Jha. Vol. I.

54. A History of Indian Philosophy : Dr. Das Gupta, Vol. 2.

सहायक पत्रिकायें :-

1. दार्शनिक : त्रैमासिक, सम्पादक - श्री यशदेव शल्य आदि, जिल्द 1-34, 1955-1990.

2. संदर्शन : सम्पादक, प्रो. संगम लाल पाण्डेय, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, जिल्द 1-19, 1975-1993.

-0-